रजि0 पंजीकरण सं0 : एल – 1277

ओ३म्

गुरुकुल-पत्रिका

जनवरी – अप्रैल 2004

सम्पादक

प्रो० ज्ञान प्रकाश शास्त्री

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष

श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय

हरिद्वार – 249404

वर्ष : 55वाँ

सम्पादक-मण्डल

मुख्यसंरक्षक	प्रो. स्वतन्त्र कुमार कुलपति, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
संरक्षक	प्रो. वेदप्रकाश शास्त्री आचार्य एवं उपकुलपति, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
सम्पादक	प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
सहसम्पादक	डॉ. दिनेशचन्द्र शास्त्री, रीडर, वेदविभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
सहसम्पादक	डॉ. सत्यदेव निगमालङ्कार, रीडर, श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
व्यवसाय-प्रबन्धक	डॉ. जगदीश विद्यालङ्कार पुस्तकालयाध्यक्ष, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
प्रकाशक	प्रो. ए.के. चोपड़ा कुलसचिव, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
मूल्य	१०० रुपये वार्षिक

मुद्रक : किरण ऑफसैट प्रिंटिंग प्रेस, कनखल, हरिद्वार। फोन : 01334-245975

विषयानुक्रमणिका

सम्पादकीयम्

धर्मादर्थश्च कामश्च

महाभारत में महर्षि व्यास कहते हैं कि मनुष्य को ऐसे अर्थ और काम का सेवन करना चाहिये जो धर्म से नियन्त्रित हो। सामान्यतया अर्थ और काम जीवन के साधन भी हैं और साध्य भी, परन्तु धर्म सर्वदा एक ही रूप रहता है और वह साधन अथवा साधक अर्थात् वह कभी साध्य रूप में नहीं होता है। धर्म साध्य नहीं हैं वह तो नियामक है। जब नियामकशक्ति धर्म का नियन्त्रण शिथिल हो जाता है या नहीं रहता है, तब जीवन एक दु:खद घटना बन जाता है। इसीलिये महर्षि व्यास बड़े आक्रोश और निराशा भरे स्वर में कहते हैं-

ऊर्ध्वबाहुर्विरोम्येष नहि कश्चिच्छृणोति माम्।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किन्न सेव्यते॥

मैं दोनों हाथ खड़े करके कहता हूँ, लेकिन मेरी कोई सुनता ही नहीं है। हे संसार के लोगो! धर्मपूर्वक अर्थ और धर्मपूर्वक ही काम का सेवन क्यों नहीं करते हो?

महर्षि व्यास के मन में जो पीडा है, वह कोई अपने स्वार्थ से उत्पन्न व्यथा नहीं है। वह राजनीति में बहाये जाने वाले घड़ियाली आँसू नहीं है, वह तो लोकमङ्गल की भावना से जनित क्षोभ है। यदि मानव महर्षि व्यास के कथन का अनुपालन करे तो उसे कष्ट हो ही नहीं सकता। समस्त समस्याओं का मूल जीवन में धर्म के नियन्त्रण का अभाव है।

महर्षि व्यास ने जिस धर्मपूर्वक अर्थार्जन का संकेत किया, उस विषय में आचार्य मनु भी कहते हैं-

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः।[१]

सब प्रकार की शुचियों में अर्थ की शुद्धता सबसे बढ़कर है। जो अर्थ की दृष्टि से शुद्ध है, वही शुद्ध है, लेकिन जिसने अपने को मिट्टी, जल आदि साधनों से शुद्ध किया है, वह शुद्ध नहीं है।

यहाँ यह विचार करने का विषय है कि जिसने मिट्टी, जल, साबुन आदि से मलों को निर्मूल करने वाले साधनों से अपने को शुद्ध किया है, वह शुद्ध नहीं है, वरन् जिसने न्यायपूर्वक धन को अर्जित किया है, वह शुद्ध है, ऐसा क्यों? अपने आशय को स्पष्ट करते हुए तथा मन में उठने वाली उक्त शङ्का का समाधान करते हुए मनु कहते हैं:-

---

१ मनु०,५.१०६.

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति।[2]

शरीर की शुद्धि जल से, मन की शुद्धि सत्य का आचरण करने से, आत्मा की शुद्धि विद्या और तप से होती है, जबकि बुद्धि ज्ञान से निर्मल होती है। उक्त वक्तव्य से मनु ने स्पष्ट कर दिया है कि शरीर की शुद्धि का एकमात्र साधन जल है, जबकि अन्त:करणसहित आत्मशुद्धि के साधन चार हैं:-१.सत्य, २.ज्ञान, ३.तप और ४.ब्रह्मविद्या। जो व्यक्ति सत्य और ज्ञान पर चल पड़ता है, वह अनीतिपूर्वक धन का अर्जन नहीं कर सकता या यह कह सकते हैं कि जिसे अपनी आत्मा को शुद्ध करना है, वह सत्य और ज्ञान की उपेक्षा नहीं कर सकता और सत्य एवं ज्ञान के मार्ग पर चलने वाला अनीति का आश्रय कैसे ले सकता है ?

छान्दोग्योपनिषद् कहती है:-

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।
स्मृतिप्रतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोचनम्।[3]

भोजन की शुद्धि से बुद्धि निर्मल होती है। बुद्धि की निर्मलता से स्मृति निश्चल होती है और स्मृति की निश्चलता से सब ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं।

देश में चुनाव का महासमर प्रारम्भ हो चुका है, सभी दल अपने सत्तारूप कामसुख के लिये सब प्रकार के हथकण्डे अपनाने रहे हैं, लेकिन कोई भी धर्म का अनुपालन करने को तैय्यार नहीं है। चुनाव आचारसंहिता भी है, पर उसे कोई मानने वाला नहीं है। उसके मूल में निहित भावना की निरन्तर अवहेलना हो रही है। दु:ख की बात यह है कि आज देश शिक्षित है, परन्तु काम ऐसे किये जा रहे हैं, जब हम अशिक्षित थे तब भी नहीं करते थे। जिन बुराइयों का वर्णन ये राजनीतिज्ञ बड़े जोर-शोर से करते हैं और जिसकी पहिचान आज के आम आदमी को भी है, उस बुराई को अपनाने में सभी मान-मर्यादाओं की धज्ञियाँ उड़ायी जा रही हैं। यह हम सभी जानते हैं कि इस देश की पराधीनता तथा देश की अधिकांश समस्याओं के मूल में जातिवाद एक अभिशाप के समान रहा है।

यदि हम इतिहास का अवलोकन करें तो हमें हमारी अकर्मण्यता और मूर्खता के एक से एक अच्छे उदाहरण दिखने को मिलते हैं। जिनको सुनकर व पढ़कर अपने पूर्वजों की बुद्धि पर तरस आता है। ऐसी ही एक घटना सन् ९८६ ई० की है, जिसमें सुबुक्तगीन और जयपाल के मध्य घमासान युद्ध हुआ और भारतीय सेना किसी तरह पराजित होने की स्थिति में नहीं थी, तब जिस तालाब या झील का भारतीय सेना पानी पीती थी, उसमें शराब मिला दी गयी, बस फिर क्या था, भारतीय सेना ने पानी पीने से मना कर दिया और अन्त में विवश होकर जयपाल को सुबुक्तगीन से सन्धि करनी पड़ी। आचरण के जिस स्वरूप का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं था, उसको इस देश की जनता ने इतना अधिक महत्त्व देना प्रारम्भ कर दिया कि वही भारत के गले की हड्डी बन गयी। इतिहास के इन कटु

---

२ मनु०,५.१०९.

३ छान्दो०,३.७.२५.

अनुभवों को पढ़कर हमारे राजनीतिज्ञ सबक लेने को तैय्यार नहीं है। वे आज भी इस सोच में जी रहे हैं कि हम सत्ता का सुख भोग लें, देश का जो होता हो, उन्हें उनसे कुछ मतलब नहीं हैं।

महाकवि दिनकर संस्कृति के चार अध्याय नामक पुस्तक में लिखते हैं कि 'ज्यों-ज्यों हिन्दुओं का साहस और पुरुषार्थ घटता जाता था, त्यों-त्यों उनकी ऐंठ बढ़ती जाती थी। इनका धार्मिक संस्कार विकृत होगया था और वे मानने लगे थे कि संसार में सबसे तुनक चीज जनेऊ और जात है, जो एक बार गयी तो फिर वापिस नहीं लायी जा सकती है।[४]

हमारी दुर्बलताओं की पहिचान जितनी अच्छी उदार सम्राट् माने जाने वाले अकबर को थी, उतनी शायद इससे पूर्व किसी अन्य विदेशी शासक को नहीं थी। उसने भारतीयों की इसी कमजोरी को पहिचान कर उसका भरपूर लाभ उठाया, उसने सुजानसिंह हाड़ा को सेना लेकर काबुल जीतने का आदेश दिया, तब उस वीर पुरुष को विदेशी सेना का कोई भय नहीं था, परन्तु वह इस चिन्ता से भयभीत था कि वह काबुल जीतकर लौटने के बाद, पुन: अपनी जाति में सम्मिलित नहीं हो पायेगा, अत:, उसने अपने दोनों पुत्रों को काबुल विजय के लिये भेजा और उनसे सम्बन्ध विच्छेद कर लिया, क्योंकि उपर्युक्त धारणा के कारण वे हिन्दू नहीं रह गये थे और उन्हें भी मुसलमान बन जाना पड़ा, क्योंकि वे अपने समाज में फिर वापिस नहीं आ सकते थे। उदार माने जाने वाले अकबर ने कितनी चालाकी से हाड़ा के दोनों पुत्रों और उसकी सेना को मुसलमान बना लिया और हम अपनी मूर्खता के कारण अपनों को पराया बनाते चले गये। बाप ने बेटों को मुसलमान बन जाने के लिये बाध्य किया। हमारी पराधीनता और उसके साथ पैदा होने वाली विवशता का इससे अच्छा उदाहरण शायद ही कोई दूसरा मिले। हम अपने अज्ञानजन्य आचरण के गुलाम बनते चले गये।

इस देश की दुर्दशा को देखकर महर्षि दयानन्द सरस्वती से न रहा न गया और वे कहने को विवश हो गये कि वे अगर विदेश आते-जाते रहते औरों से मिलते-जुलते रहते तो वे निश्चित रूप से इतने सङ्कीर्ण और बुद्धिहीन नहीं रहते। इसका कारण है कि इनके पूर्वज इतने सङ्कुचित विचारों के नहीं थे। महाभारत और मनुस्मृति में अनेकश: विदेश और समुद्रयात्रा पर जाने का उल्लेख मिलता है।[५] कल्पना कीजिये कि क्या विना विदेशगमन किये हुए बौद्ध धर्म इतने सुदूर देशों में फैल सकता था।

मध्यकाल या मुगलकाल तक आते-आते हमारा धर्म इतना अधिक सङ्कुचित, सङ्कीर्ण और नाजुक होगया था यदि गाँव के कुँए में कोई मुसलमान पानी डाल देता था तो उस पानी को पीने वाला सारा गाँव स्वत: मुसलमान हो जाया करता था। इसी प्रकार युद्ध के समय गाय सामने कर देने या युद्ध क्षेत्र में मन्दिर पड़ जाने पर हमारे हथियार एक ऐसे भय के कारण, जिसका कोई अस्तित्व नहीं था, हाथ से छूटने लगते थे। धर्म के साथ भय का विष घोलने वाले इन शास्त्र प्रहरियों को इसका कोई उपाय सूझता ही नहीं था। इन्होंने अपने तुच्छ स्वार्थ के लिये, मिथ्या अहङ्कार की पुष्टि

---

४ दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पृ०,३०९.

५ महा०शान्तिपर्व,३२५.१४-१५. 'मेरोहरिश्च द्वे वर्षे वर्षं हैमवतं ततः। क्रमेणैव समागम्य भारतं वर्षमासदत्। स दृष्ट्वा विविधान् देशान् चीनहूणनिषेवितान्।' मनु०,८.४०६. 'दीर्घाध्वनि यथादेशं यथाकालं तरो भवेत्। नदीतीरेषु तद्विद्यात् समुद्रे नास्ति लक्षणम्।' द्रष्ट०, सत्यार्थप्रकाश, दशम समु०, पृ०,४०८-४०९.

के लिये, विना परिश्रम के पीढ़ी दर पीढ़ी सम्मान और वैभवपूर्ण जीवन यापन करते रहने के लिये इस देश को इतने गहरे विनाश के गर्त में ढकेल दिया कि अब उसका उद्धार करने का कोई रास्ता ही दिखायी नहीं देता है।

इसी प्रकार की एक घटना अकबर के काल की है। अकबर ने राजपूत सरदारों से कहा कि वे अपनी बेटियों का विवाह शाही खानदान में करें और हमारी बेटियाँ अपने यहाँ लें, परन्तु यह प्रस्ताव भी राजपूतों के गले नहीं उतरा। उन्होंने सोचा कि एक मुसलमान लड़की हमारे यहाँ आने से हम सब मुसलमान हो जायेंगे, परन्तु अपनी बेटी देने से मात्र वह लड़की ही मुसलमान बनेगी, इसलिये उन्होंने मुसलमानों को दामाद बनाना तो स्वीकार किया, परन्तु उनकी लड़की को पुत्रवधू बनाने का साहस वे नहीं जुटा पाये।[६] कर भी कैसे सकते थे, जहाँ एक लोटा पानी से सारा गाँव मुसलमान बन जाता हो, वहाँ एक मुस्लिम लड़की के आने से क्या कुछ नहीं हो सकता था।

मध्ययुग की भारतीय धर्म की मानसिकता की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए दिनकर कहते हैं कि 'शास्त्रों का अत्याचार केवल इतना ही नहीं था कि उन्होंने खाने-पीने, चलने-फिरने, मिलने-जुलने और आने-जाने पर इतने अधिक प्रतिबन्ध लगा दिये थे कि उनके अनुसार आदम की जात, बात की बात में, चली जाती थी। उनका इससे बढ़ा अत्याचार, कदाचिद् यह था कि जातिभ्रष्ट व्यक्ति को फिर से जाति मिलाने का उन्होंने कोई उपाय नहीं निकाला था। मनु और याज्ञवल्क्य स्मृतियों में जातिभ्रष्ट व्यक्ति को जाति में लाने का कोई प्रबन्ध नहीं था।[७] जहाँ तक स्मृतियों में जातिभ्रष्ट को पुन: जाति में वापिस लेने के विधान का प्रश्न है, के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिये कि उस युग में ऐसी कोई समस्या नहीं थी। इसके अतिरिक्त उस समय जाति-व्यवस्था का कोई अस्तित्व नहीं था और उस युग में प्रचलित वर्ण-व्यवस्था का आधार गुण और कर्म थे, अत:, योग्यता के आधार पर कोई भी इन वर्णों को प्राप्त कर लिया करता था तथा अयोग्य होने पर उनसे बाहर कर दिया जाता था।[८]

प्रकृति का सहज सिद्धान्त है कि वंश का वंश में किया जाने वाला संयोग वृद्धि का नहीं, वरन् अवनति का कारक होता है। दुहिता शब्द से इसी अर्थ की पुष्टि होती है।[९] पुरोहित कहे जाने वाले वर्ग ने प्रकृति के इस सामान्य नियम की अवहेलना की और उसका परिणाम समाज, देश और धर्म के विघटन के रूप में हमारे सामने है। उक्त वर्ग को इस नाम से अभिहित किये जाने का यह

---

६ वीर विनोद, द्वितीय भाग, पृ०,१७०. संस्कृति के चार अध्याय, पृ०,३१०. 'राजपूतों ने सोच-विचारकर कहा कि आपकी बेटियाँ तो हमारी सरदार हैं, जिनके साथ शादी करना बेअदबी में दाखिल होगा और अपनी बेटियाँ हम लोग आपको ब्याह देंगे। इन लोगों का इस बात से यह मतलब था कि बादशाहों की बेटियाँ हमारे घरों में आयीं तो उनके बड़प्पन से परहेज में खलल आकर मुसलमाना होना पड़ेगा और हमारी बेटी बादशाह के घर में गयीं तो ज्यादा अंदेशे की बात नहीं है। इसलिये राजा भारमल्ल (बिहारीमल्ल) कछवाहे ने सबसे अव्वल अपनी बेटी बादशाह को दी।'

७ दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पृ०,३१३.

८ मनु०,२.१६८. 'योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्। स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वय:।'

९ निरु०,३.४. 'दूरे हिता।'

तात्पर्य था कि वह समाज (यजमान) का हित अपने सामने रखता था अर्थात् उसके लिये समाज हित से बढ़कर और कुछ नहीं था।[10] लोक-कल्याण ही उसका जीवन था, लोकमङ्गल के लिये ही वह समर्पित था। जैसा कि कहा गया है कि 'स्वार्थी ब्राह्मण नष्ट हो जाता है।'[11] जब बुद्धिजीवी भ्रष्ट होता है, तो वह अन्यों की अपेक्षा बहुत अधिक देश, समाज या धर्म को क्षति पहुँचा सकता है। एक कर्मचारी के भ्रष्ट होने पर होने वाली हानि की तुलना में मन्त्री या प्रधानमन्त्री के भ्रष्ट होने वाली हानि का आकलन करना बहुत कठिन है। कुछ ऐसा ही बुद्धिजीवी वर्ग के चरित्रभ्रष्ट होने पर इस देश को झेलना पड़ा है और आज यह विपत्ति, यह चरित्र का सङ्कट अधिक विस्फोटक रूप में समाज की समझ को झुलसा रहा है। गत चार या पाँच सहस्र वर्ष में जो विघटन हुआ, मुगलकालीन पराधीनता के युग में जो सामाजिक मूल्य विनष्ट हुए, अंग्रेजों के दो सौ वर्ष के क्रूर और कुटिल हाथों हमारी संस्कृति जिस प्रकार लाञ्छित और अविश्वसनीय बना दी गयी। आजादी के ४० वर्षों में मानसिक दासता का परिचय देते हुए जो हमने अपने ही हाथों अपनी इज्जत चौराहे पर बेची। इन सबके समग्र उग्र रूप से भी अधिक भयङ्कर, समाज की बची हुई शक्ति और सुख-शान्ति को इतिहास का विषय बना देने वाली, अपने ही पैरों पर कुठाराघात कर देने जैसी भयङ्कर भूल की भूमिका अभी हम कुछ दिन पूर्व प्रस्तुत कर चुके हैं। उसके निरङ्कुश प्रहार आगे आने वाली पीढ़ियों को झेलने पड़ेंगे। हम आज भी उसी नीति पर चल रहे हैं, जिससे देश में वर्ग और सम्प्रदाय कैक्टस की तरह समाज को कण्टकमय बना रहे हैं। आज तो सब परिणाम को जानकर भी अनजान बन रहे हैं। बौद्धिक वर्ग का चरित्र-पतन पहले भी इस देश को अवनति के गर्त में ले गया था, आज भी सुपर सोनिक जैट की सी तीव्रता से उस ओर ले जा रहा है, जहाँ परतन्त्रता और विनाश के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। यह निश्चित रूप से, विना किसी सङ्कोच और औपचारिकता के कहा जा सकता है कि भारतीयों के सामाजिक सङ्गठन पर आज भी पराधीनता युग का प्रभाव देखा जा सकता है और जब तक जातिरूपी रसायन की विषैली परत भारतीय समाज पर पड़ी हुई है, उसके उद्धार का कोई मार्ग, न पहले था और न आज है। सृष्टि नियम का उल्लङ्घन करके, कदाचिद् भगवान् अवतार ले भी लें, तब भी इस देश और समाज का कल्याण सम्भव दिखायी नहीं देता है। जैसा गीता में भगवान् कृष्ण कहते हैं कि 'व्यक्ति स्वयं के उद्धार और विनाश का कारण है।[12] जिसने अपने आपको जीत लिया है, वह स्वयं अपना उद्धारक और सहायक है और जो ऐसा नहीं करता, वह अपने साथ शत्रुता का व्यवहार करता है।[13] यह कथन भारतवासियों के प्रति बिल्कुल खरा उतरता है। हम अपने स्वार्थ को नहीं जीत पा रहे हैं और इतिहास साक्षी है कि यही एक दुर्बलता हमें पराधीन बनाने के लिये पर्याप्त सिद्ध हुई है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती मनुस्मृति के आधार पर राजा और सभासदों की योग्यता का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि जो ब्रह्मचर्य, सत्यभाषणादिव्रत, वेदविद्या वा विचार से रहित, जन्ममात्र से

---

१० निरु०,२.१२. 'पुर एनं दधाति।'

११ हितोपदेश,३.६२. 'असंतुष्टा द्विजा नष्टाः सन्तुष्टाश्च महीभृताः। सलज्जा गणिका नष्टा निर्लज्जाश्च कुलाङ्गनाः।'

१२ गीता,६.५. 'उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्। आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।'

१३ गीता,६.६. 'बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः। अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्।'

शूद्रवत् वर्तमान है, उन सहस्रों मनुष्यों के मिलने से भी सभा नहीं कहाती है।[१४] आगे वे कहते हैं कि इन लोगों को आत्मविद्या का जानना वाला और जितेन्द्रिय भी होना चाहिये, क्योंकि जितेन्द्रिय ही प्रजा को वश में रख सकता है।[१५] इस विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि मध्ययुग के राजा और सभासद् राजा और सभासद् होने के पात्र नहीं थे। अयोग्य और नीति में अकुशल नेतृत्व से इससे भिन्न की अपेक्षा भी नहीं करनी चाहिये।

आज आवश्यकता है कि राजनीति में एक व्यवस्था हो, धर्म की एक नियामक शक्ति के रूप में प्रतिष्ठा हो। राजनीति धर्म का नियन्त्रण न करे, इसके विपरीत आगे बढ़कर धर्म को राजनीति को संयमित करने का प्रयास करना चाहिये। इस कार्य में हमारा मार्गदर्शन महर्षि दयानन्द के सिद्धान्त कर सकते हैं, जो उन्होंने वेदविद्या के आधार पर अन्वेषित किये हैं। महर्षि ने जो मार्ग दिखाया है उस पर चलकर ही देश का कल्याण सम्भव है। जितेन्द्रियतारहित राजशक्ति के अभाव में इस देश की दुर्दशा निश्चित है। अब तक होती रही है और आगे भी निरन्तर होने वाली है। पर यह कार्य आज के धर्मपुरुष नहीं कर सकते, क्योंकि इन पर राजनीति की परछाईं पड़ चुकी है और उसकी कालिमा से ये कलुषित हो चुके हैं। इस कार्य को तो कोई चाणक्य जैसा आचार्य ही कर सकता है या फिर महर्षि जैसा घर फूँक तमाशा देखने वाला ऋषि होना चाहिये। हम आशा और विश्वास कर सकते हैं कि जिस प्रकार अन्धकार के पश्चात् सूर्य का उदय निश्चित है, उसी प्रकार वर्त्तमानयुगीन अन्धयुग अवश्य समाप्त होगा।

प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री
सम्पादक
गुरुकुल-पत्रिका

---

१४ सत्यार्थप्रकाश, षष्ठ समु०, पृ०,२२८. मनु०,१२.११४. 'अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम्। सहस्रशः समेतानां परिषत्वं न विद्यते।'

१५ सत्यार्थप्रकाश, षष्ठ समु०, पृ०,२२८. मनु०,७.४३-४४. 'त्रैविधेभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम्। आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्तारम्भाश्च लोकतः। जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः।'

वेदमञ्जरी

तरणिः ज्योतिष्कृच्च

तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य।

विश्वमाभासित रोचनम्।। ऋग्१.५०.४

ऋषिः प्रस्कण्वः। **देवता** सूर्यः। **छन्दः** गायत्री।

हे (**सूर्य**) परमेश्वररूप सूर्य! त्वम् (**तरणिः**) तारयिता (**विश्वदर्शतः**) सर्वैः दर्शनीयः किञ्च (**ज्योतिष्कृत्**) ज्योतिषः प्रदाता (**असि**) विद्यसे। त्वम् (**विश्वम्**) सकलं (**रोचनम्**) दीप्तियुक्तम् (**आभासि**) आदीपयसि।

हे परमेश्वर! त्वं सूर्योऽसि। अस्माकं सौरमण्डलस्य दृष्टिगम्येषु ज्योतिष्पिण्डेषु ज्योतिष्मत्तमः सूर्य एव दृश्यते, यत्र त्वदीयतेजसः स्तरं वयं द्रष्टुं शक्नुमः। अत एव वयं कथयामो यत् त्वं तेजसि साक्षात् सूर्योऽसि, सूर्यवत् स्वयं प्रकाशमानः प्रकाशकश्च वर्तसे। एतदतिरिक्तं सरणशीलत्वात्, सर्वव्यापकत्वात्, सर्वप्रेरकत्वात्, प्रकम्पकत्वाच्चापि त्वं सूर्यपदवाच्यो भवसि। अयि ज्ञानसूर्य! अयि गुणगरिमसूर्य! अयि प्रशस्तक्रियाशीलतायाः सूर्य! त्वं तरणिः असि, विपदां दुःखानाञ्च तमःस्तोमात् तारयिता वर्तसे, संसारसागरात् तारयिता विद्यसे, जन्ममरणचक्रात् तारयिता भवसि। त्वं निमज्जमानानामस्माकं तारयित्री नौकाऽसि। अयि प्रकाशपुञ्ज! त्वं विश्वदर्शतः असि स सर्वैर्दर्शनीयो विद्यसे। भौतिकं प्रचण्डं सूर्यं प्रति सुचिरं दृष्टिं बद्ध्वा यदि वयं पश्येम, तर्हि अस्माकं चक्षुषी अन्धे स्याताम्। किन्तु त्वम् एवंविधो विलक्षणः सूर्योऽसि यस्य दर्शनेन तृप्तिर्लभ्यते, अन्धोऽपि दृष्टिं प्राप्नोति। महर्षिर्याज्ञवल्क्यस्त्वां द्रष्टव्यं श्रोतव्यं मन्तव्यं निदिध्यासितव्यं च मन्यते-**आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च (बृ०उप०३.४.५)।**

अयि देव! त्वं ज्योतिष्कृद् असि। यथा सूर्यो निशाया विस्तीर्णं तमोजालं विच्छिद्य दिवसस्य शुक्लं ज्योतिः प्रयच्छति, तथैव त्वं मानवस्य अविद्यान्धकारं विदार्य हृदयाकाशे ज्ञानस्य शुभ्रं ज्योतिः प्रद्योतयसि। सांसारिका जनाः कथयन्ति यत् पृथिवीमंगलबुधबृहस्पतिविद्युच्चन्द्रादीनां विद्योतयिता भौतिकः सूर्यो वर्तते। किन्तु वस्तुतस्तु अयि प्रकाशक प्रभो! सर्वाण्यप्येतानि तवैव दीप्त्या दीपितानि सन्ति। लोकानां प्रकाशयिता भौतिकः सूर्योऽपि तवैव दीप्त्या दीप्तिमान् भवति। विश्वस्य सर्वासु प्रभासु तवैव प्रभाया द्रष्टा ऋषिः सत्यमेव ब्रूते-**'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति (मुण्ड०उप० २.१०)'** इति। किञ्च आसृष्टेः अधुनावधि येऽपि प्रख्याता योगीश्वरा दिव्यगुणानां प्रकाशेन प्रकाशिता भूतकाले जाताः, वर्तमानकाले वर्तन्ते, भविष्यत्काले च भविष्यन्ति तेषामपि सर्वेषां दिव्यप्रकाशेन प्रकाशयिता त्वमेव वर्तसे। अयि अलौकिकप्रभासमन्वित! अस्मानपि स्वप्रभया प्रभावतः कुरु।

आचार्य रामनाथ वेदालङ्कारः

उपासना का आनन्द

उप त्वाग्ने दिवे दिवे, दोषावस्तर्धिया वयम्।
नमो भरन्त एमसि॥[1]

ऋग्वेद के इस मन्त्र में भक्तजन भगवान् के प्रति अपने हृदयोद्गार प्रकट करते हुए कह रहे हैं कि हे प्रभो, हम प्रतिदिन सायं-प्रातः आपकी उपासना करते हैं। 'उपासना' का अर्थ है समीप बैठना (उप-समीप, आसना-बैठना)। एवं प्रभु की उपासना का अर्थ हुआ प्रभु के समीप बैठना। हम सभी मनुष्य कभी न कभी प्रभु के समीप बैठने की स्थिति में होते हैं। प्रयत्न से ऐसी स्थिति भी लायी जा सकती है कि हम जब चाहें तब प्रभु के समीप बैठ जाएँ। मैं यहाँ दार्शनिक भाषा नहीं बोल रहा। दार्शनिक दृष्टि से तो प्रभु सदा ही हमारे समीप है और हम उसके समीप हैं, क्योंकि वह सर्वव्यापक है। परन्तु यदि हम उनके सान्निध्य का अनुभव नहीं करते तो वह समीप होता हुआ भी हमसे दूर है। इसीलिए तो उपनिषद् के ऋषि ने गाया है-**'तद्दूरे तदु अन्तिके'**, वह दूर भी है और समीप भी है।

विद्वान् लोग कहा करते हैं कि उपासना योग की समाधि-अवस्था में होती है, और वे ठीक ही कहते हैं। पर मैं उनकी बात का खण्डन न करता हुआ भी सर्व-साधारण से यह कहना चाहता हूँ कि उपासना को योगियों के लिए ही सीमित न समझिए। आप और मैं सभी उपासना का आनन्द ले सकते हैं, भले ही हम योग-समाधि की उच्च स्थिति तक न पहुँचे हों।

हम सब प्रतिदिन प्रातः सायं सन्ध्योपासना करते हैं, प्रभु के साथ मिलने का प्रयत्न करते हैं। सर्वप्रथम गायत्री मन्त्र द्वारा शिखा बाँधते हुए प्रभु से मिलने की भावना को अपने अन्दर दृढ़ करते हैं। फिर आचमन द्वारा हृदय को पवित्र करते हैं। फिर जल से अंगस्पर्श करते हुए एक-एक इन्द्रिय को निमन्त्रण देते हैं कि प्रभु-मिलन में तुम सहायक होना, बाधक नहीं। फिर मार्जन-मन्त्र से सिर, नेत्र, कण्ठ, हृदय आदि सब अवयवों के दोषों को बुहारकर साफ कर देते हैं। फिर प्राणायाम द्वारा बुहारे हुए दोषों को जलाकर पवित्रता सम्पादन करते हैं। फिर अघमर्षण-मन्त्रों से यह भावना जागृत करते हैं कि प्रभु के पदार्पण के लिए स्वच्छ किए हुए हमारे इस देव-मन्दिर में यदि कोई पाप डेरा डालने आएगा तो उसका हम डटकर मुकाबला करेंगे। फिर मनसा-परिक्रमा द्वारा सब दिशाओं की परिक्रमा कर हम देखते हैं कि कहीं कोई शत्रु हमें अपवित्र करने के लिए तथा प्रभु-मिलन में बाधक होने के लिए घात लगाए तो नहीं बैठा है। यदि कोई ऐसा पाप-शत्रु दीखता है तो उसे हम उस दिशा के अधिपतियों; रक्षकों और इषुओं के शिकंजे में कसकर चकनाचूर कर देते हैं। इस प्रकार सर्वात्मना अपने-आपको प्रभु-मिलन के लिए तैयार कर उपस्थान-मन्त्रों

---

1 ऋ01.1.7

से हम प्रभु के सान्निध्य का अनुभव करते हैं। आनन्द-विभोर हो हम पुकार उठते हैं-

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्।
पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं
शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः
स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥[2]

अहा! यह सूर्यसम प्रकाशक, प्रभु मेरे अन्दर उदित हो गया है। मैं वैसे ही उसकी समीपता का अनुभव कर रहा हूँ, जैसे कोई सामने-स्थित वस्तु की समीपता का अनुभव करता है। इस ज्योति के प्रति मुग्ध हूँ। इसके प्रकाश में मैं सौ वर्षों तक देखता रहूँ, सौ वर्षों तक जीता रहूँ, सौ वर्षों तक सुनता रहूँ, सौ वर्षों तक प्रवचन करता रहूँ, सौ वर्षों तक अदीन बना रहूँ। सौ ही क्यों, सौ से भी अधिक वर्षों तक जीवन की सब क्रियाएँ करता रहूँ। केवल मैं अकेला नहीं, हम सभी सौ और सौ से भी अधिक वर्षों तक इन कार्यों को करते रहें।

फिर हम गायत्री मन्त्र का पाठ करते हैं और प्रार्थना करते हैं कि उपासना की इस वेला में हमने प्रभु के जिस अद्भुत तेज की झाँकी पाई है, वह तेज हमारी बुद्धियों को नया मोड़ देवे, नई दिशा में प्रेरित कर देवे। फिर आनन्द विह्वल हो प्रभु के चरणों से लिपट जाते हैं-

नमः शम्भवाय च मयोभवाय च।
नमः शङ्कराय च मयस्कराय च।
नमः शिवाय च, शिवतराय च॥[3]

यह है हमारी दैनिक उपसना का ब्यौरा। पर यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि हम प्रभु की उपासना क्यों करें?

वह माता-पिता

बालक स्वभावतः अपने माता-पिता के पास बैठने में सुख मानता है। बालक पढ़ रहा है, भोजन कर रहा है, पर वह माँ को अपने पास से हिलने देना नहीं चाहता। माँ कहती है तू तो कहानी पढ़ रहा है, मैं यहाँ बैठी क्या करूँगी, कुछ और काम कर लेती हूँ। पर बालक उसे पकड़कर बैठा लेता है, नहीं तुम यहीं बैठी रहो। बड़ा सुहावना दिन है, बादल छाये हुए हैं, कहीं घूमने जाने की योजना बनती है। पर जब बालक को पता चलता है कि पिताजी नहीं चल रहे तो वह कहता है मैं तो पिताजी के बिना नहीं जाता। बात क्या

---

2 यजु036. 24
3 यजु016.41

है? माता-पिता का सान्निध्य बालक को क्या देता है? आखिर कुछ तो बालक को मिलता ही है, तभी तो वह उनके बिना व्याकुल होता है। इसी प्रकार भक्तों को भी भगवान् के सान्निध्य से कुछ मिलता है। भगवान् भक्तों की माता है, भक्तों का पिता है-

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे॥[4]

"हे शतक्रतो इन्द्र, हे सैकड़ों कर्म करने वाले प्रभो, हे निवासक, तू ही हमारा पिता है, तू ही माता है। इसलिए हम तुझसे सुख की याचना करते हैं।"

अद्भुत सोमरस

भक्त को भगवान् से क्या मिलता है यह वेद के शब्दों में सुनिए। भक्त को भगवान् से मिलता है सोम-रस, जिसके लिए वेद गाते हैं-

स्वादुष्किलायं मधुमाँ उतायं
तीव्रः किलायं रसवाँ उतायम्।
उतो न्वस्य पपिवांसमिन्द्रं,
न कश्चन सहत आहवेषु॥[5]

जिसने प्रभु से मिलनेवाले आनन्द-रस को पा लिया है उसके मुख से सहसा उद्‌गार निकल पड़ते हैं-"आहा, यह कैसा स्वादु है! कैसा मधुर है! कैसा तीव्र है! कैसा रसीला है! जिसने इसे पी लिया उसे देवासुर-संग्रामों में कोई असुर परास्त नहीं कर सकता।"

सोम का झरना

इसी रस का एक बार स्वाद लेकर भक्तजन आतुरता के साथ पुकार उठते हैं-

स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया।
इन्द्राय पातवे सुतः॥[6]

"हे प्रभु से झरनेवाले आनन्द-रस, तुम अपनी स्वादुतम धारा के साथ मेरे अन्दर झरो, तुम अपनी अतिशय मस्ती लाने वाली धारा के साथ मेरे अन्दर झरो। तुम मुझ-आत्मा के पान करने के लिए प्रस्तुत होते हो।"

---

4 ऋ08.98.11
5 ऋ06.47.1
6 साम0468

तरंगों का झूला

उपासना करने पर प्रभु भक्त को अपने साथ आनन्द-सागर की तरंगों में झुलाता है-

परि प्रासिष्यदत् कविः, सिन्धोरूर्मावधिश्रितः।
कारुं बिभ्रत् पुरुस्पृहम्॥[७]

कवि प्रभु स्वयं आनन्द-सागर की लहरों पर उतरा रहा है। जब भक्त उपासना करता हुआ उसके समीप पहुँचता है, तब वह उस अतिशय प्यारे अपने उपासक को (कारु को) अंगुली पकड़कर अपने साथ तैराने लगता है और लहरों में झुला-झुलाकर कृत-कृत्य कर देता है।

अतः, आइए, हम भी उस प्रभु की उपासना करें-

अम्भो अमो महः सह इति त्वोपास्महे वयम्॥
अम्भो अरुणं रजतं रजः सह इति त्वोपास्महे वयम्॥
उरुः पृथुः सुभूर्भुव इति त्वोपास्महे वयम्॥
प्रथो वरो व्यचो लोक इति त्वोपास्महे वयम्॥[८]

हे प्रभो, आप (अम्भः) रसमय है, आनन्दस्वरूप हैं, (अमः) बली हैं, (महः) महिमाशाली हैं, (सहः) साहसी हैं (इति त्वा उपास्महे वयम्) इस कारण हम आपकी उपासना करते हैं

हे प्रभो, आप (अम्भः) हम प्यासों के पानी हैं, (अरुणं) प्रकाशमय हैं, (रजतं) हम गरीबों की चाँदी हैं, (रजः) हम निर्बलों का रक्त हैं, इस कारण हम आपकी उपासना करते हैं।

हे प्रभो, आप (उरुः) सर्वशक्तिमान् हैं, (पृथुः) सर्वव्यापक हैं, (सुभूः) सत्स्वरूप हैं, (भुवः) चित्स्वरूप हैं, इस कारण हम आपकी उपासना करते हैं।

हे प्रभो, आप (प्रथः) प्रख्यात हैं, (वरः) वरणीय हैं, वर देनेवाले हैं, (व्यचः) विस्तीर्ण हैं, (लोकः) सर्वद्रष्टा हैं, इस कारण हम आपकी उपासना करते हैं

आपकी उपासना हमें रस प्रदान करे, आनन्द प्रदान करे, सद्गुणों का प्रवाह प्रदान करे। **नमस्ते अस्तु पश्यत, पश्य मा पश्यत॥[९]** हे सर्वदर्शी, आपको नमस्कार हो। हे सर्वदर्शी, मुझे भी देखो।

---

7 साम0486

8 अथर्व013.4.50-53

9 अथर्व013.4.55

मन्त्र-पदार्थ

1. (अग्ने) हे तेजस्वी पथ-प्रदर्शक प्रभो, (वयम्) हम सब (दिवे दिवे) प्रतिदिन (दोषावस्त:) सायं-प्रात: (धिया) ध्यान द्वारा (नमो भरन्त:) नमस्कार की भेंट लाते हुए (त्वा) तेरी (उप एमसि) उपासना करते हैं।

2. (वसो) हे निवासक प्रभु, (त्वं हि) तू ही (न:) हमारा (पिता) पिता है। (शतक्रतो) हे शतप्रज्ञ शतकर्मा प्रभु, (त्वम्) तू ही (माता) माता (बभूविथ) है। (अध) इसलिए हम (ते) तेरे (सुम्नम्) आनन्द को (ईमहे) माँगते हैं।

3. (अयम्) यह सोमरस, आनन्दरस (किल) निश्चय ही (स्वादु:) स्वादु है, (उत) और (अयम्) यह (मधुमान्) मधुर है। (अयम्) यह (किल) निश्चय ही (तीव्र:) तीक्ष्ण है, (उत) और (अयम्) यह (रसवान्) रसीला है। (उतोनु) और (अस्य पपिवांसम्) इसके पीनेवाले (इन्द्रम्) आत्मा को (आहवेषु) देवासुर-संग्रामों में (कश्चन) कोई भी (न सहते) पराजित नहीं कर सकता।

4. (सोम) हे आनन्द-रस, तू (स्वादिष्ठया) स्वादिष्ठ और (मदिष्ठया) मस्ती लानेवाली (धारया) धारा के साथ (पवस्व) प्रवाहित हो। तू (इन्द्राय पातवे) जीवात्मा के पीने के लिए (सुत:) निचोड़ा गया है।

5. (कवि:) कवि प्रभु (सिन्धो:) आनन्द-सिन्धु की (ऊर्मौ) लहरों पर (अधिश्रित:) सवार हुआ-हुआ, (पुरुस्पृहम्) बहुत प्यारे (कारुम्) स्तुतिकर्ता को (बिभ्रत्) पकड़े हुए (परिप्रासिष्यदत्) तैर रहा है, झूल रहा है।

डॉ० रामनाथ वेदालंकार
वेद मन्दिर, ज्वालापुर, हरिद्वार

वैदिक वाङ्मय में सामाजिक व्यवस्था

वैदिक साहित्य में प्रतिबिम्बित सामाजिक व्यवस्था किसी एक स्थान अथवा काल की परिधि से बँधी हुई नहीं है। वह शाश्वत् है और सार्वभौम है। युगों तक मानवमात्र का मार्गदर्शन करने की उसमें क्षमता है।

समाज शब्द सम-उपसर्ग पूर्वक अज् (चलना) धातु से बना है। दूसरे शब्दों में मनुष्यों का एक साथ रहकर, मिलकर एक दूसरे का सहयोग करते हुए जीवन यापन करना ही समाज है। जहाँ यह सहयोग जितना अधिक होगा, सामञ्जस्य जितना सुदृढ़ होगा, उतना ही वह उन्नत समाज होगा।

वेद के अधिकांश मन्त्रों में प्रार्थना करते हुए उत्तम पुरुष बहुवचन का प्रयोग किया गया है। प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र में हम सबकी बुद्धियों को प्रेरित करने की प्रार्थना है।[1] एक अन्य मन्त्र में हम सबके लिए अन्धकार से निकलकर उत्तम ज्योति सूर्य के समान ऊपर, उठने की प्रार्थना है।[2] इसी प्रकार 'हे सबका नेतृत्व करने वाले परमेश्वर (अग्ने) हम सबको उत्तम धन के लिए शोभन मार्ग से ले जाओ'।[3] आदि प्रार्थनाओं में सबके लिए सामूहिक प्रार्थना है, व्यष्टि के लिए नहीं है।

वैदिक ऋचाएं सब प्राणियों को अपनी आत्माओं और अपनी आत्मा को सब प्राणियों में देखने की प्रेरणा देती हैं।[4] यही वह स्थिति है जिसमें व्यक्ति समष्टि से एकरूप होकर घृणा से, ऊँचनीच की अलगाव की भावना से सर्वथा मुक्त हो सकता है। वेद निर्देश देता है-तुम समान मन वाले सखा होकर जागो।[5]

इन उत्तम भावों को प्राप्त करने की प्रथम पाठशाला है परिवार। परिवार ही वह स्थान है जहाँ मनुष्य शैशवावस्था से ही सामाजिकता को प्राप्त करता है। इसीलिए अथर्ववेद के प्रसिद्ध सौमनस्य सूक्त में माता-पिता तथा पुत्र, भाई-बहन, पति-पत्नी में पूर्ण सौमनस्य की कामना व्यक्त की गई है।[6] वेद में ऐसे सम भाव का एवं परस्पर प्रेम का उपदेश दिया गया है जैसा गाय का अपने नवजात वत्स के प्रति होता है।[7]

परिवार में ग्रहण की हुई यह सौमनस्य-भावना सामाजिक जीवन में पूर्णता को प्राप्त

---

1 धियो यो नः प्रचोदयात्।

2 उद्वयं तमसस्परि.................सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्।

3 अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्।

4 यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।। वा.स.40.4

5 उद् बुध्यध्वं समनसः सखायः (ऋ.10.10.9)

6 अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः। जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम्।। मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा। सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया।। (अथर्व.3.30. 2,3)

7 सहृदयं सौमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः। अन्योऽन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या।। (अथर्व.3.30.1)

होती है। वेद सब मनुष्यों को उसी परमपिता परमात्मा की सन्तान मानकर सब में समदृष्टि से रहने का उपदेश देता है। ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ये सब मनुष्य भाई हैं, इनमें से कोई जन्म से बड़ा नहीं-और कोई छोटा नहीं, इस समानता के भाव को अपनाते हुए सब ऐश्वर्य या उन्नति के लिए मिलकर, आगे बढ़ते हैं।[8]

वेद के अनुसार व्यक्ति समाज का एक अंग है और इसीलिए समाज की उन्नति के लिए अपनी सम्पूर्ण शक्तियों को लगा देना सबका प्रधान धर्म है। वेद में मनुष्य के लिए 'व्रात' शब्द का अनेक स्थानों पर प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ समुदाय अथवा संघप्रिय है।

वैदिक समाज-व्यवस्था का दूसरा आधार है त्याग पूर्वक उपभोग।[9] सामाजिक जीवन में हम एक दूसरे के लिए त्याग करने के लिए सदैव तत्पर रहें। मेरे पास जो कुछ है वह सब समाज ने ही दिया है अत: आवश्यकता पड़ने पर समाज के लिए प्रिय से प्रिय वस्तु का प्रसन्नता पूर्वक त्याग करना स्वस्थ समाज की पहचान है।

वैदिक व्यवस्था में संगति का विशेष महत्त्व है किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि इससे विविधता समाप्त हो जाये। वेद में स्वीकार किया गया है कि मनुष्य के दोनों हाथ देखने में एक समान होते हुए भी एक समान कार्य नहीं करते। सृष्टि के अस्तित्त्व में आने के लिए भी विषमता आवश्यक है। जब तक सत्त्व, रजस्, तमस्-ये तीनों गुण साम्यावस्था में रहते हैं, तब तक सृष्टि रचना नहीं होती है। पुनरपि सर्व-कल्याण का एक उद्देश्य लेकर भी अपने-अपने स्वभाव के अनुसार मनुष्य कार्यरत रह सकता है, जिस प्रकार पृथ्वी विविध रूपों वाली होती हुई भी सब प्रकार के मनुष्यों की रक्षा करने में उसी प्रकार तत्पर रहती है जैसे एक घर की।[10]

इस प्रकार स्वाभाविक विषमताओं को स्वीकार करते हुए भी समान लक्ष्य का प्रतिपादन करने वाला वैदिक समाजवाद आधुनिक ध्वंसात्मक, समाजवाद अथवा साम्यवाद से नितान्त भिन्न है, वह हृदय परिवर्तन में विश्वास करता है। यज्ञभावना, दानभावना इसका प्राणतत्त्व है। वेद के अनुसार बिना बांटे अकेले भोग करने वाला व्यक्ति केवल पाप का भोग करता है।[11] तैत्तिरीय उपनिषद् में भी अनेक प्रकार से दान की प्रेरणा दी गई है। मनुष्य को श्रद्धापूर्वक देना चाहिए, अपने सामर्थ्य के अनुसार देना चाहिए, समाज की लज्जा से देना चाहिए, भविष्य के भय से देना चाहिए, और मित्रता के लिए देना चाहिए।[12] वेदों में इष्ट और पूर्त का उपदेश दिया गया है। यज्ञों से वायु शुद्धि द्वारा समस्त प्राणियों का उपकार, इष्ट

---

8 अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते। सं भ्रातरो वावृधु: सौभागाय।। (ऋग्.5.60.5)

9 तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा:। यजु.40.1

10 जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्। (अथर्व.12.1.45)

11 केवलाघो भवति केवलादी। ऋ.10.117.6

12 तै0 उ01.11

है और प्याऊ लगवाना, धर्मशाला बनवाना, कुएँ खुदवाना, अन्नदान, उद्यान आदि सुख, सुविधाएं प्रदान करना-ये सब पूर्त हैं। यह उदार-भावना उन्नत समाज का निर्माण करती है।

वेद के अनुसार, वास्तविक दाता वह है जो कृशकाय, अन्न की कामना से इधर-उधर भटकने वाले तथा दिये हुए को ग्रहण करने वाले को दान देता है।[13] जो जितना अधिक दान देता है वह उतना ही अधिक यशस्वी होता हैं एक चौथाई अपने पास रखकर, तीन चौथाई देने वाला उत्तम है। आधा दान देने वाला चौथाई दान देने वाले से अच्छा है और जो व्यक्ति सारा ही अपने पास रख लेता है, वह पशुतुल्य है। उसे तो आधा दान देने वाले से भी शिक्षा लेनी पड़ती है। वह बेचारा जीवन के अन्तिम क्षणों में उनके पदचिह्नों को देखता खड़ा रहता है कि कहीं कोई आकर, उसे दान का मर्म समझाये।[14] दान की प्रेरणा देने वाले अनेक मन्त्र वेदों में देखे जा सकते हैं।

दान और त्यागभावना का ही दूसरा नाम यज्ञ है। यज्ञ वैदिक सामाजिक विचारधारा का महत्त्वपूर्ण अंग है। एक मन्त्र में यह कामना व्यक्त की गई है कि मेरा प्राण, मेरा अपान, व्यान, प्रत्येक श्वास, मन, ध्यान, वाणी, निपुणता और बल सब यज्ञ भावना से युक्त हों। यह सब यज्ञ में समर्पित कर देने की उदात्त भावना है। इसकी पराकाष्ठा इस बात में है कि स्वयं यज्ञ के भी यज्ञ भावना से युक्त होने की कामना है।[15] देना, सहायता करना, दु:ख दूर करना और मन से भी किसी का अशुभ न सोचना-यह यज्ञ है, उन्नत शिल्प, उन्नत उद्योग, उन्नत विज्ञान में प्रवृत्त होना भी यज्ञ है, यदि उसमें क्षुद्र स्वार्थ का त्याग किया जाये।

समस्त समाज में परस्पर मित्र-दृष्टि, बन्धुत्व वैदिक सामाजिकता का आदर्श है। वेद में उद्घोषणा पूर्वक कहा गया है कि मैं मनुष्यों सहित सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूँ। हम सब परस्पर मित्र की दृष्टि से देखें।[16] अथर्ववेद में प्रार्थना की गयी है कि भगवन्! ऐसी कृपा कीजिये, जिससे मैं प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्राणिमात्र के प्रति सद्भावना रख सकूँ।[17] हमारा आचरण इतना स्नेहपूर्ण और सहानुभूति पूर्ण हो कि कोई भी हमारे प्रति द्वेष न करे।[18] हम एक दूसरे की सहायता करें। मनुष्यमात्र की सब ओर से रक्षा करें।[19] इस विचार धारा में जाति, वर्ण, ऊँच, नीच, देश आदि के सब भेद समाप्त हो जाते हैं। मनुष्य की रक्षा केवल

---

13 स इद् भोजो यो गृह्णते ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय (ऋ.10.117.3)

14 एकपाद् भूयो द्विपदो वि चक्रमे द्विपात् त्रिपादमभ्येति पश्चात्। चतुष्पादेति द्विपदामभिश्चरे संपश्यन् पंक्तीरुपतिष्ठमान:।। ऋ10.117.8

15 प्राणश्च मेऽपानश्च मे व्यानश्च मे.........वा0सं018.29

16 मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे। वा.सं.36.18

17 ....यांश्च पश्यामि यांश्च न तेषु मा सुमतिं कृधि। अथर्व-17.1.7

18 मा नो द्विक्षत कश्चन। अथर्व-12.1.24

19 पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वत:। ऋ.6.75.14

इसीलिए की जानी चाहिए क्योंकि वह मनुष्य है। यही व्यापक विश्व-परिवार की भावना है। वेद के अनुसार कर्महीन, आलसी और मानवीय गुणों से रहित व्यक्ति दस्यु है।[20]

वेद में विश्व-शान्ति की और सबकी स्वस्ति की स्थान-स्थान पर प्रार्थनाएं हैं-

स्वस्ति नः पथ्यासु धन्वसु स्वस्त्यप्सु वृजने स्वर्वति।
स्वस्ति नः पुत्रकृथेषु योनिषु स्वस्ति राये मरुतो दधातन।।[21]
शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्यमा।
शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः।।[22]

वेद में समाज की कल्पना एक सुगठित शरीरधारी पुरुष के रूप में की गई है। पुरुष के विभिन्न अंगों से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-इन चार वर्णों की उत्पत्ति बतलायी गयी है। वहाँ व्यञ्जना यह है कि जिस प्रकार शरीर के सब अंग एक दूसरे से परस्पर सम्बन्धित हैं और यदि अंग में पीड़ा हो जाये तो उसका अनुभव समस्त शरीर में होता है उसी प्रकार समाज में भी संगठन व जीवन शक्ति रहनी चाहिए।

डॉ० महावीर, डी-लिट.
प्रोफेसर संस्कृत विभाग,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

---

20 अकर्मा दस्युरभि नो अमन्तुरन्यव्रतो आमानुषः। त्वं तस्यामित्रहन्वधर्दासस्य दम्भय।। ऋ.10.22.8
21 ऋ.10.63.15
22 ऋग्.9.90.9

हिन्दू और सिक्खधर्म में जीवन-पद्धति, साधना और धार्मिक अनुष्ठान

सिक्ख धर्म एक प्रकार से हिन्दू धर्म का भक्ति आन्दोलन है। इसमें भक्ति की प्रधानता है। गुरु नानक देव जी का सन्देश आध्यात्मिक था। इन्हे रामानुज, रामानन्द, चैतन्य, नामदेव, तुकाराम, मीराबाई, कबीर आदि के समकक्ष की भक्ति परम्परा में रखा जा सकता है। कुछ लोग तो गुरुनानक देव को दूसरा कबीर मानते हैं। चूँकि इनके पाँचवे गुरु (अर्जुन देव) और नौवें गुरु (तेगबहादुर सिंह) गुरुओं को मार डाला गया था, इसलिए सिक्खों में विरोध और युद्ध की भावना उद्दीप्त हुई। गुरु ग्रन्थ साहिब को यदि देखें तो इसमें त्रिलोचन के चार पद, नामदेव के बासठ, कबीर के दो सौ चालीस साखियाँ और दो सौ सत्ताईस पद पाये जाते हैं। जयदेव के दो दोहे, वेणी के तीन पद, रामानन्द का एक पद, पीपा का भी एक पद, धन्ना के चार पद पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त रविदास, सूरदास, मीरा की रचनायें भी इसमें सम्मिलित की गयी हैं। इस प्रकार गुरु ग्रन्थ साहिब में गुरुनानक देव तथा अन्य सिक्ख गुरुओं की रचना के साथ-साथ हिन्दू सन्तों की वाणियाँ भी हैं। लगलभ 35 रचनाकारों को इसमें सम्मिलित किया गया है, परन्तु कबीर की वाणियों का प्रमुख स्थान रहा है। गुरु ग्रन्थ साहिब को सन्तों की रचनाओं की तरह ही संगीत के रूप में गाया जाता है। इससे सिद्ध हो जाता है कि गुरु-ग्रन्थ-साहिब एक भक्तिसंग्रह है।

सिक्ख धर्म भक्ति आन्दोलन होने के कारण इसकी साधना भी हिन्दू धर्म के जैसी साधना है, प्रायः वैसी ही साधना सिक्खों में है।

हिन्दू साधना में जाप करने का बड़ा महत्त्व है। प्राचीन काल से लेकर आज तक जाप करने की परम्परा है। महर्षि वाल्मीकि का राम नाम जप तो प्रसिद्ध ही है। हिन्दू धर्म के सभी सम्प्रदायों में अपने-अपने इष्ट देवों, मन्त्रों आदि का जाप किया जाता है। कोई राम नाम, कोई ओ३म् नमः शिवाय, कोई विष्णु, कोई राधे कृष्ण, कोई सीता राम, कोई हनुमान् आदि मन्त्रों का जाप करते हैं। आर्य समाजी ओ३म् और गायत्री मन्त्र आदि का जाप करते हैं।

सिक्खों में भी इसी प्रकार जाप करना बहुत ही मुख्य बतलाया गया है। सिक्ख सत् नाम, वाहे गुरु का जाप करते हैं। यह परमात्मा का ही नाम है। गुरुनानक देव का आदेश है-(1) नाम जपो, (2) किरत करो, (3) वण्डके छको।

बार-बार गुरु ग्रन्थ साहिब में ईश्वर स्मरण को मुक्ति का मार्ग कहा गया है। कारण यह है कि जब ईश्वर सुमिरण होता रहेगा तो तब गलत विचार नहीं होंगे। सिक्ख धर्म में बतलाया गया है कि शरणागति के भाव के साथ ईश्वर का नाम सुमिरण करना चाहिए। कबीर, नामदेव आदि ने भी ईश्वर का नाम सुमिरण और भजन करना बतलाया है। गोस्वामी

तुलसीदास जी ने कहा ही है-

कलयुग केवल नाम अधारा।
सुमिर-सुमिर नर उतर हीं पारा॥
सिक्ख धर्म में भी कहा है-
नाम न जपहि ते आतमघाती
और भी कहा है-
राम सिमर एहो तेरो काज।
गुरु अर्जुनदेव ने कहा है-
राम राम राम राम जाप
कलि कलेस लोभ मोह विनसी जाइ अहंताप

शुद्ध हृदय से ईश्वर पर ध्यान लगाना (ध्यानना) तथा नाम स्मरण करना, यही अन्तिम गति प्राप्ति का असली नुस्खा है।

इस प्रकार जाप की साधना हिन्दुओं और सिक्खों दोनों में ही बहुत मुख्य एवं प्रचलित है और इसे मोक्ष का साधन माना गया है।

हिन्दू धर्म के वेदों, उपनिषदों, गीता, पुराणों आदि में ''समर्पण'' ईश्वर प्राप्ति का सबसे मुख्य साधन है। गीता के कर्मयोग का मूलमन्त्र यही है। भक्ति साधना का भी आधार यही है। श्री अरविन्द के पूर्णयोग का रहस्य भी यही है। अनेक हिन्दू सन्तों ने समर्पित होकर ईश्वर का साक्षात्कार किया। महर्षि पतञ्जलि के योगदर्शन में समाधि प्राप्ति का सबसे मुख्य साधन समर्पण को ही कहा गया है-**ईश्वर प्रणिधानाद्वा।** (यो0सू01-23) इस प्रकार हिन्दू साधना में सबसे मुख्य सूत्र ईश्वर समर्पण ही है।

हिन्दू धर्म की ही भाँति सिक्ख धर्म में भी ''शरणागति'' अर्थात् समर्पण को बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इसके अनुसार भक्त जब अपनी इच्छा को उस अकाल पुरुष की इच्छा में समर्पित कर देता है तो वह लोक कल्याण के लिए कार्य करता है। कहा गया है कि झूठ का पर्दा कैसे उठे? सत्य के दर्शन कैसे हों? इसका एक ही उपाय है ''हुकमि रजाई चलणा'' जिसका अर्थ है उस मालिक की मर्जी पर अपने को छोड़ देना। उसकी आज्ञा के अनुसार चलना, उसके आदेश पर चलना यही एक रास्ता है। कहा गया है-

ठाकुर तुम्ह सरणाई आइया
उतरि गइयो मेरे मन का संसा जबते दर-सनु पाइया॥
अनबोलत मेरी विरथा जानी अपना नामु जपाइआ।
दुख नाठे सुख सहजि समाए अनद-अनद गुण गाइआ॥

कहु नानक गुरि बन्धन काटे बिधुरत आनि मिलाइआ॥

सिक्ख धर्म के अनुसार कहा गया है कि मानवजन्म बहुमूल्य है। इसमें मानव अपनी इच्छा को ईश्वर में समर्पित कर अपनी परम गति को प्राप्त कर लेता है। ऐसा ही गीता में कहा गया है।

हिन्दुओं और सिक्खों, दोनों में ही आन्तरिक शुद्धि पर विशेष बल दिया गया है। हिन्दू धर्म में शुद्धि साधना का एक अंग है। हिन्दुओं के जीवन में सर्वत्र शुद्धि का बड़ा महत्त्व है। खान-पान, रहन-सहन, धार्मिक अनुष्ठानों और साधना में शुद्धि का विशेष ध्यान रखा गया है। इसी प्रकार सिक्खों के जीवन में भी शुद्धि को महत्त्व दिया गया है। कहा गया है-

कर इशनान प्रभु अपना तन मन भै अरोगा।

सिक्ख गुरुओं ने आन्तरिक विशुद्धि पर बहुत बल दिया है। कहा है कि शुद्ध हृदय से ईश्वर का ध्यानना तथा नामस्मरण करना यही अन्तिम गति प्राप्ति का असली नुस्खा है।

हिन्दू धर्म में झूठ न बोलने, सत्संग करने, धोखा न देने, लालच न करने, सन्तोष का पालन करने को महत्त्व दिया गया है। हिन्दू साधना में यम और नियम के अन्तर्गत इनकी चर्चा की गयी है, जिनका प्राय: सभी प्रकार की हिन्दू साधनाओं में पालन किया जाता है, यही सिक्ख धर्म में भी है। कहा गया है कि हे सिक्खो! तुम कर्ज न लो यदि लेना ही पड़े तो उसे ईमानदारी से अदा करो, झूठ न बोलो। यहाँ तक कि झूठे का साथ भी न दो। सत्संग करो, सत्य बोलो, सत्य से प्रेम रखो और ईमानदारी के साथ परिश्रम से कमाओ। धोखा न दो, लालच न करो आदि-आदि।

जपुजी साहिब में गुरुनानक देव जी ने कहा है-

मुंदा संतोखु सरमु पतु झोली धियान की करहि विभूति।
खिंया कालू कूआरी काइया जुगति डंडा परतीति॥
आयी पंथी सगल जमाती मनु जीतै जगु जीतु।
आदेसु तितै आदेसु॥
आदि अनीलु अनादि अनाहति जुगु-जुगु एको वेसु॥

अर्थात् तू सन्तोष की मुद्रा धारण कर अर्थात् सन्तोषी हो जा। श्रम की झोली ले पाने के लिये श्रम कर। ध्यान की विभूति लगा अर्थात् ध्यान कर। काल ही तेरी गुदड़ी है। काया तेरी कुँवारी रहे अर्थात् निष्कलंक पवित्र रहे। विश्वास ही तेरा डंडा हो। सबको तू अपनी जमात का मान अर्थात् सबको अपना मान। मन को तू जीत ले, मानो तूने सारा जग जीत लिया। जो आदि ईश है, उसे प्रणाम कर। जो अनादि है। जिसका कोई रंग-रूप नहीं, कोई अन्त नहीं और जुग-जुग से एक है।

सत्संग का हिन्दुओं में बड़ा महत्त्व है। सत्संग को मोक्ष प्राप्ति का ज्ञान प्राप्ति का

साधन माना गया है। गोस्वामी तुलसी दास जी ने कहा है-

बिन सत्संग विवेक न होई।
राम कृपा बिन सुलभ न सोई॥

इसी प्रकार सिक्ख धर्म में सत्संग करने पर बहुत बल दिया गया है।

जिस प्रकार हिन्दुओं में भजन, कीर्तन का महत्त्व है। वैसा ही सिक्खों में भी है। हिन्दुओं की तरह आपको सिक्खों में कीर्तन, भजन होता हुआ दिखाई देगा। रामायण आदि की तरह गुरु ग्रन्थ की वाणियाँ भी संगीतमय हैं, गायी जाती हैं। जैसे गुरु का महत्त्व हिन्दुओं में है वैसा ही सिक्खों में है।

हिन्दू धर्म के अनुसार-

गुरु गोविन्द दोनों खड़े काके लागूं पाँय।
बलिहारी गुरु आपने गोविन्द दियो बताय॥
सिक्ख धर्म में भी कहा गया है-
गुरु गोविन्द दून्यू खड़े काके लागूँ पाई।
बलिहारी गुरु आपणौ जिमि गोविन्द दिया दिखाई॥

और भी कहा गया है-

गुरु मेरी पूजा गुरु गोविन्द।
गुरु मेरा पार ब्रह्म गुरु भगवन्तु॥

हिन्दू धर्म में इसे इस प्रकार कहा है-

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वर.........

सिक्ख धर्म में मोक्ष की साधना के तीन तत्त्व बतलाये गये हैं-निज साधना, गुरु निर्देश और ईश्वर प्रसाद अर्थात् ईश्वर कृपा। ये हिन्दू साधना में पहले से ही मान्य है। साधना से जो मुक्ति प्राप्त होती है, वह भी हिन्दू धर्म की ही मान्यन्ता के अनुसार ही चार प्रकार की है-सामीप्य, सान्निध्य, सारूप्य और सापूज्य।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सिक्ख धर्म में वही साधना है जो कि हिन्दू धर्म में। मुख्य रूप से भक्ति सम्प्रदाय में। यदि भेद है तो बाह्य है, शब्दों का है। वास्तविक रूप में तो एक ही है।

हिन्दुओं की भाँति सिक्ख भी यही मानते हैं कि मनुष्य अपने कर्मों का फल पाता है चूँकि सिक्ख धर्म एक प्रकार से हिन्दू धर्म ही है, इसलिए हिन्दुओं की भाँति सिक्खों के धार्मिक अनुष्ठान और जीवन पद्धति प्रायः एक ही प्रकार की हैं। हिन्दुओं की भाँति सिक्खों में भी कुछ संस्कार किये जाते हैं। जन्म के पश्चात् पाँचवे दिन सिक्खों में बच्चे को अमृत छकाया जाता है जिसमें कुण्डी में जल में बताशे रगड़ कर बच्चे के मुख में कुछ बूंद एक

गुरुवाणी का पाठ करके डालते हैं। फिर कुछ बड़ा होने पर दूसरा संस्कार कराया जाता है, जिसमें उसे साथ में सिक्खों के पाँच चिह्न धारण कराये जाते हैं, और उसे स्वयं की तथा राष्ट्ररक्षा एवं चरित्र आदि की शिक्षा दी जाती है। इस अवसर पर गुरुवाणी का पाठ होता है और अमृत छकाया जाता है।

पहले हिन्दुओं की ही भाँति सिक्खों में भी वैसे ही विवाह संस्कार होता था। ब्राह्मण मन्त्रों के पाठ से वेदी का प्रयोग करके ही विवाह कराते थे। कालान्तर में इसमें कुछ परिवर्तन कर दिया गया। अब भाई जी फेरे कराते हैं, यज्ञ के स्थान पर गुरुग्रन्थ साहिब को साक्षी मानकर केवल चार फेरे कराते हैं। एक लावाँ कहते हैं फिर एक फेरा, फिर दूसरा लावाँ कहकर दूसरा फेरा। इसी प्रकार चारों फेरे एक-एक लावाँ पढ़कर कराये जाते हैं। फेरों के समय श्रीकृष्ण और रुक्मणी का नाम लिया जाता है। फेरों के पश्चात् पुष्पवर्षा के साथ आशीर्वाद दिया जाता है। नामधारी सिक्खों के यहाँ अभी भी वेदी से फेरे होते हैं।

हिन्दुओं ही की भाँति अन्तिम संस्कार होता है। मृतक को स्नान कराते हैं। शरीर पर दही, शहद मलते हैं। मुख में पवित्र जल डालते हैं। गुरुनानक देव, गुरुगोविन्द सिंह और गुरुग्रन्थ साहिब को साक्षी मानकर अरदास (प्रार्थना) करते हैं। प्रार्थना में मृतक को ईश्वर के चरणों में स्थान देने और उसके परिवार को कष्ट सहन करने के लिए ईश्वर से प्रार्थना की जाती है। फिर चिता को अग्नि दी जाती है। हिन्दुओं की तरह से अस्थिचयन भी किया जाता है। उन अस्थियों को पवित्र नदी में प्रवाहित किया जाता हैं, यहाँ तक कि तेरह दिन बाद तेरहवीं भी की जाती है। इतना ही नहीं हिन्दुओं की ही भाँति कुछ सिक्ख श्राद्ध भी करते हैं। बस अन्तर केवल इतना है कि मन्त्रों, श्लोकों के स्थान पर गुरु वाणियों का पाठ करते हैं।

जैसे हिन्दू तीर्थो पर जाते हैं, वैसे ही सिक्ख भी अमृतसर, आनन्दपुर, साहिब, पटना साहिब, हेमकुण्ड आदि स्थानों पर जाते हैं। साथ ही वे हरिद्वार आदि स्थानों पर भी जाते हैं। उन्हें गंगास्नान करते हुए आप खुद देख सकते हैं। यद्यपि गुरुनानक देव ने पौराणिक देवी-देवताओं को नहीं माना है, परन्तु बहुत सारे सिक्ख वैष्णो देवी आदि के मन्दिरों में दर्शन व पूजा अर्चना करने जाते हैं। अधिकतर सिक्ख शाकाहारी होते हैं। समय की माँग के अनुसार गुरु गोविन्द सिंह जी ने पाँच ककार (कड़ा, केश, कच्छ, कंघी और कृपाण) धारण कराये और खालसा पन्थ की स्थापना की, जो आगे चलकर सिक्ख धर्म के रूप में जाना जाने लगा।

गुरुनानक देव और उनके पिता श्री कालूलाल खत्री दोनों हिन्दू ही थे। गुरुनानक देव के दोनों पुत्र, श्रीचन्द और श्री लक्ष्मीचन्द भी दोनों ही हिन्दू थे जिन्होंने क्रमश: उदासीन पन्थ और निर्मल पन्थ चलाया। यें दोनों ही पन्थ हिन्दुओं के अत्यधिक निकट हैं। सिक्खों के दसों गुरु भी जन्म से हिन्दू ही थे। पंच प्यारे भी पहले हिन्दू ही थे, बाद में उन्हें सिक्ख बनाया गया।

गुरुनानक देव की विचार शैली भी पूर्ण रूप से हिन्दू विचार शैली है। वर्ण भेद, पौराणिक

देवी-देवता, अवतार वाद आदि को न मानने के कारण उन्होंने अपने को हिन्दू कहने से इन्कार कर दिया था। पर व्यापक अर्थ में सिक्ख धर्म ने हिन्दू धर्म की उसी प्रकार रक्षा की, जैसे शंकराचार्य, राणा प्रताप, शिवाजी, दयानन्द आदि ने अपने-अपने अनुसार की। सिक्खों का एक मुख्य कार्य गो और ब्राह्मण की रक्षा करना रहा है। उदाहरण के रूप में गुरु तेगबहादुर का बलिदान ब्राह्मणों की रक्षा के लिए ही हुआ था। सिक्ख का अर्थ शिष्य है। सिक्खों को हिन्दुओं का संरक्षक योद्धा माना जाता था। गुरु गोविन्द सिंह जी ने कहा है कि जब सब उपाय निष्फल हो जाये तब तलवार उठाना ही धर्म कहा जायेगा। ऐसी ही मान्यता मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम और योगेश्वर श्रीकृष्णचन्द्र जी की रही है। हिन्दू शास्त्रों को पढ़ने से भी ऐसा ही स्पष्ट होता है। इस प्रकार हम फिर से कह सकते हैं कि सिक्खधर्म हिन्दू परम्परा में ही गिना जायेगा। हिन्दुओं की भाँति सिक्ख धर्म में कर्म-संसार-ज्ञान-मुक्ति के चतुष्पदी स्तम्भ पाये जाते हैं। अनेक गुरुद्वारों में उदासीन शाखा के लोग पुजारी बनते हैं, जो हिन्दुओं जैसे ही हैं। इन सब बातों के आधार पर ही भारत के संविधान धारा 25, 2बी स्पष्टीकरण में सिक्खों को हिन्दू की संज्ञा दी गयी है।

वर्तमान समय में सिक्खों और हिन्दुओं के बीच जो दूरी बढ़ गयी है उसका मुख्य कारण राजनैतिक है, जो एक प्रकार की संकीर्णता है। सिक्ख उग्रवादियों ने राजनैतिक स्वार्थों के लिए बहुत से हिन्दुओं को मारा और हिन्दुओं ने सिक्खों को मारा। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि सिक्ख उग्रवादियों ने तो बहुतसारे सिक्खों को मार डाला। श्री हरचन्द सिंह लोगोंवाल को भी इसलिए मार डाला गया था।

अन्त में मैं निष्कर्ष के रूप में यह कह सकता हूँ कि हिन्दुओं और सिक्खों में भीतर से कोई भेद नहीं है। बाह्य थोड़ा है। बहुत लम्बे समय तक यह हिन्दू धर्म में ही एक पन्थ के रूप में माना जाता रहा और वास्तव में अपने स्वरूप में आज भी वही है।

डॉ० त्रिलोक चन्द
रीडर दर्शन शास्त्र विभाग

इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि के साथ तादात्म्य नहीं

इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाना मात्र इन्द्रियसंयम नहीं कहा जा सकता। यह तो केवल एक पक्ष हुआ। आत्मसंयम की सफलता तो इन्द्रियों सहित मन द्वारा एकाग्रभाव से दृढ़ता के साथ आत्मा के विषय में ध्यान करने से हैं। जब मन सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं एवं बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती, तब उसे परम गति कहते हैं-

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गति॥[1]

ज्ञान तीन प्रकार का होता है:-एक इन्द्रियगत ज्ञान, दूसरा बुद्धिगत ज्ञान और तीसरा सनातन ज्ञान। इन्द्रियगत ज्ञान, ज्ञान तो हैं लेकिन अधूरा ज्ञान है। आँखें देखती हैं लेकिन उसमें बुद्धिवृत्ति न मिलाओ तो सामने दिखने वाला व्यक्ति कौन है? कैसा है? इसका पता नहीं चलता। आँखें तो दिखा देती हैं कि ठूँठ में चोर है पर चोर है नहीं। आँख दिखा देती हैं सब, लेकिन वह सब वास्तविक ज्ञान नहीं है। इन्द्रियगत ज्ञान में जो आकर्षण पैदा होता है यदि उस आकर्षण को बुद्धि रूपी छाननी में छाना जाए तो मनुष्य पशु से भी नीचे गिर जायेगा। पशु तो अपने कर्मों को काट कर उन्नति की ओर जा रहे हैं, परन्तु इस प्रकार का मनुष्य अपने पुण्यों का नाश करके पतन की ओर जा रहा है। मनुष्य इन्द्रियगत ज्ञान के आकर्षण में बह जाता है। जिसके कारण वह बुद्धिगत ज्ञान का आदर नहीं कर पाता है। इन्द्रियगत ज्ञान में अगर धर्म का संपुट न हो, बुद्धि का उपयोग न हो तो कुछ न कुछ पदार्थ के सुख की लालसा बनी रहेगी। बुद्धिगत ज्ञान का आदर करने से विचार का उद्भव होता है कि यह भोगने के बाद का परिणाम क्या? शराब पीने के बाद का परिणाम क्या? अवैध वस्तुओं का उपयोग करने के बाद परिणाम क्या? धर्म विरुद्ध आचरण करने से परिणाम क्या? बुद्धि के द्वारा यह पता चलता है। बुद्धिगत ज्ञान का आदर करने से इन्द्रियगत आकर्षण टूट जाता है। इन्द्रियाँ भोग में खींचती हैं और बुद्धि परिणाम की खबर देती है। बुद्धि का हम जितना आदर करते हैं बुद्धि उतनी अधिक विकसित होती हैं। जितना हम बुद्धि का अनादर करते हैं इन्द्रियों की बाढ़ में बह जाते हैं। उतना ही बुद्धि मन्द हो जाती है। बुद्धि का विनाश होता है-**"बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥**[2]"इन्द्रियगत ज्ञान के आकर्षण से मनुष्य के चित्त में भिन्न-भिन्न प्रकार की कामनायें उत्पन्न होती हैं और यदि कामनायें पूरी हुई तो आकर्षण पैदा होता है। कामनाओं की पूर्ति में यदि किसी बड़े आदमी ने विघ्न डाला

---

1 कठोपनिषद् स्वामीचिन्मयानन्द सेन्ट्रल चिन्मय मिशन ट्रस्ट, मुम्बई द्वितीय अध्याय, तृतीय वल्ली, पृष्ठ संख्या 242

2 जीते जी मुक्ति, पूज्यपाद सन्त श्री आराराम जी महाराज, श्री योगवेदान्त समिति, सन्तश्री आसाराम जी आश्रम, साबरमती, अहमदाबाद-380005 पृष्ठ संख्या -84

तो भय, यदि किसी बराबर के व्यक्ति ने विघ्न डाला तो ईर्ष्या और यदि किसी छोटे मनुष्य ने विघ्न डाला तो क्रोध उत्पन्न होता है। इस प्रकार कामना से ही क्रोध, ईर्ष्या और भय का जन्म होता है और कामनाओं का जन्म इन्द्रियगत ज्ञान का आदर करने से होता है। इन्द्रियगत ज्ञान का आदर करने तथा बुद्धि का अनादर करने से मनुष्य कामना रूपी भट्टी में जलता है। बुद्धिगत ज्ञान का आदर करने तथा मनुष्य का चित्त कामना रहित होता है। इन्द्रियगत ज्ञान अति तुच्छ है। जो लोग इन्द्रियगत ज्ञान को सर्वस्व मानते हैं उन लोगों के जीवन में बस, भोग...........भोग............भोग..........। परन्तु बुद्धिगत ज्ञान का आदर करने से मन निःसंकल्प होता है और मन के निःसकल्प होने से सामर्थ्य बढ़ता है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि मन ही सबका कारण है। यदि मन में सत्य, ज्ञान, वैराग्य का चिन्तन होता रहे तो मनुष्य एक अलौकिक एवं दिव्य जीवन को प्राप्त कर लेता है और मन से बार-बार इन्द्रियविषयों का चिन्तन होता रहने से विषयों के प्रति आसक्ति हो जाती है। आसक्ति की जहाँ प्रबलता हुई कामवेग का आना स्वाभाविक है और कामना की पूर्ति न होने पर क्रोध उत्पन्न होता है-

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।।[3]

क्रोध से मूढता उत्पन्न होती है, मूढ़ता से स्मृति नष्ट हो जाती है। स्मृति के नाश होने से बुद्धि विनष्ट हो जाती है और बुद्धि के नष्ट होने से मनुष्य स्वयं पतित हो जाता है।

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।।[4]

जब मनुष्य के मन में क्रोध उत्पन्न होता है तब उसके हृदय और मस्तिष्क में घोर अंधकार छा जाता है। इस अंधकार या अविवेक के आ जाने पर वह न कहने योग्य बात कहता है, न करने योग्य काम करता है और न सोचने योग्य बात सोचता है। ऐसी स्थिति में उसकी स्मरण शक्ति भ्रमित हो जाती है। स्मरणशक्ति के नष्ट होने पर सत्य-असत्य में अन्तर करने वाली बुद्धि नष्ट हो जाती है। सत्य क्या है? असत्य क्या है? विधि एवं निषेध क्या है? कर्तव्य एवं अकर्तव्य क्या है? इसका ज्ञान जिसको नहीं रहता, वह सन्मार्ग पर चलेगा, इसकी तो कल्पना ही नहीं की जा सकती। अत एव जिसकी बुद्धि नष्ट हो गयी है वह व्यक्ति स्वयं नष्ट हो जाता है।

राग द्वेष से सर्वथा रहित पुरुष ही जीवनमुक्त है। ऐसा व्यक्ति किसी प्राणी पदार्थ की आशा नहीं करता और न हीं वह किसी को पराधीन बनाने की चेष्टा करता है। जो मनुष्य अपने मन को अपने वश में कर लेता है, उसकी इन्द्रियाँ भी उसके वश में हो जाती

---

3 गीतासार, अभिलाषदास, कबीर पारख संस्थान, अध्याय 2 पृष्ठ संख्या-63

4 श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप, कृष्णकृपाश्रीमूर्ति, भक्ति वेदान्त बुक ट्रस्ट, मुम्बई, अध्याय-2 पृष्ठ संख्या-128

है। ऐसा व्यक्ति इन्द्रियों के विषयों में अनासक्त होकर विचरता है और अन्तःकरण की पवितत्रा को प्राप्त कर लेता है-

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छिति।।[5]

यहाँ पर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि मनुष्य इन्द्रियों के कौन-कौन से विषयों में अनासक्त होकर विचरता है? क्या वह अनासक्त होकर मैथुन करता है, शराब पीता तथा जीव हत्या करता है? नहीं ज्ञानी पुरुष को मैथुन करने, शराब पीने तथा हत्या करने का कोई हेतु ही कभी नहीं उत्पन्न हो सकता। ममता, मैथुन, नशा, कामना, क्रोध, अहंकार आदि का त्याग तो साधना के आरम्भिक काल में ही हो जाता है। दूषित भोंगों में लगा रहने वाला पुरुष ज्ञानी कैसा? जिनसे शरीरनिर्वाह नहीं चलता, जो केवल मन सुख के लिए कल्पित भोग है, साधक उन्हें पहले छोड़ देता है। फिर ज्ञानी पुरुष को राग द्वेष से रहित इन्द्रियों के विषयों में विचरने को क्यों कहा गया है? इसके प्रत्युत्तर में कहा जा सकता हैं कि पाँचों इन्द्रियों के विषय-शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध सर्वथा छोड़े नहीं जा सकते हैं प्रत्युत उनके दूषित अंशों को छोड़कर शुद्धरीति से शरीर-निर्वाह लेना पड़ता है। विवेकवान् सुनता, छूता, देखता, चखता तथा सूँघता है, परन्तु विकारोत्पादक नहीं, अपितु निर्वाहार्थ, वह भी अनासक्त होकर। सार यह हुआ कि ज्ञानी पुरुष कामादि भोगों को तो, पहले ही सर्वथा छोड़ चुका होता है। शेष बचा शरीरनिर्वाह, उसमें भी वह अनासक्त होकर विचरता है अर्थात् उसके सारे कार्य आसक्तिपूर्वक नहीं होते, अपितु यह सब वह अनासक्त होकर करता है। इस प्रकार वह मनःकल्पित भोगों को सर्वथा छोड़े हुए, शरीर निर्वाह में भी अनासक्ति पूर्वक विचरता है।[6]संयम से ही एकाग्रता आती है। तब मनुष्य संयत नहीं होता तो वह एकाग्र भी नहीं होता। जहाँ एकाग्रता नहीं है वहाँ शान्ति का अभाव ही है। जहाँ शान्ति का अभाव है, वहाँ सुख कहाँ मिल सकता है। सुख के लिए शान्ति प्राप्त करना चाहिए और इसके लिए मन को एकाग्र करना चाहिये। विषयों में भटकती हुई इन्द्रियों के पीछे मन का दौड़ना आपत्ति से रिक्त नहीं है। जब मन इन्द्रियों के पीछे दौड़ता है तब वह मनुष्य की बुद्धि को उसी प्रकार नष्ट कर देता है जैसे जल में विचरती हुई नाव को वायु पानी में डुबा देता है-

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि।।[7]

जो मनुष्य मन से इन्द्रियों को वश में रखता है तथा आसक्ति रहित होकर कर्मयोग में इन्द्रियों को लगाता है वह मनुष्य उत्तम है। इन्द्रियों को मात्र रोक लेना पर्याप्त नहीं है, मन का परिष्कार एवं एकाग्र होना अत्यन्त आवश्यक है। ऐसा मनुष्य अनासक्त होकर

---

5 श्रीमद्भगवद गीता, स्वामी चिन्मयानन्द, अ02.सांख्ययोग, पृष्ठ-108

6 गीतासार, अभिलाषदास, अध्याय-2 पृष्ठ सं064-65

7 श्रीमद्भगवद्गीता,स्वामी चिन्मयानन्द, तृतीय संस्करण, अध्याय-2 पृष्ठ सं.110

इन्द्रियों द्वारा सत्कर्म करता है, परन्तु किसी कर्म में उसकी किञ्चित् भी आसक्ति नहीं होती, क्योंकि उसे अपने लिए कुछ नहीं चाहिये, वह तो लोक कल्याण के लिए कर्म करता है ऐसा पुरुष महान्, महान्तर ही नहीं महान्तम है-

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥[8]

ज्ञानी पुरुष के मन, शरीर तथा इन्द्रिय स्ववश होते हैं। वह कभी भी मन इन्द्रियों की दासता को स्वीकार नहीं करता तथा समस्त सामग्रियों का भी परित्याग कर देता है। वह केवल शरीर निर्वाह ही लेता है। अर्थात् खाता है स्वाद के लिए नहीं, अपितु पेट भरने के लिए। पहनता है-रूप सौन्दर्य बनाने के लिए नहीं, तन की रक्षा के लिए। इसी प्रकार उसके शरीरनिर्वाह के समस्त कार्य आसक्ति रहित होते हैं। इस प्रकार शरीर निर्वाह में आसक्ति न होने से वह शरीर की क्रिया करते हुए भी किसी प्रकार के विकार में लिप्त नहीं होता-

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्॥[9]

इन्द्रिय मन और बुद्धि में काम का निवास स्थान है। अर्थात् मन से विषयों का चिन्तन कर, बुद्धि से विषयों में सुख निश्चय कर तथा इन्द्रियों से विषयों का उपभोग कर कामवासना का सिंचन किया जाता है और जब काम वासना द्वारा इन्द्रियाँ प्रमथित होकर व्याकुल हो जाती हैं, उस समय ज्ञान की बड़ी-बड़ी युक्तियों का पता नहीं रहता। यही काम वासना सहित मन, बुद्धि इन्द्रियों द्वारा ज्ञान का ढक जाना है। ऐसी अवस्था में मनुष्य मूढ़ हो जाता है-

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥[10]

शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध ये पाँच विषय हैं, श्रोत्र चक्षु, रसना तथा घ्राण, इन पाँच इन्द्रियों से क्रमशः इनका सम्बन्ध होता है। जिन विषयों का शरीरनिर्वाह में अनासक्ति पूर्वक उपयोग होता है, वह तो ठीक है परन्तु जो भोग केवल मनःकल्पित सुख के लिए भोगे जाते हैं जैसे-कामाचार, ममता, क्रोध, लोभ तथा अन्य नाना प्रकार के भोग, ये सब केवल दुःखों को ही उत्पन्न करते हैं-**"ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।"** सतगुरु कबीर ने कहा है-**"चाहत सुख दुःख संग न छाड़ा।"** अर्थात् मनुष्य चाहता है सुख, परन्तु दुखःदायी भोगों का संग नहीं छोड़ता। सुख भोग की लालासा ही दुःखों की

---

8 गीतासार, अभिलाषदास, अध्याय-3 कर्मयोग, पृष्ठ सं. 73

9 गीता04.29 गीता-रसामृत, शिवानन्द, सर्वन्सेग-सघं-प्रकाशन, राजघाट, वाराणसीस,1986 पृष्ठ संख्या-129

10 गीता03.40 श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीमद् एस.सी. भक्ति वेदान्त स्वामी प्रभुपाद, भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट, हरेकृष्णधाम, जुहू, मुम्बई, पृष्ठ संख्या-162

जननी है। जिसने अपने आपको इन्द्रिय-मन की सारी मलिनताओं से अछूता रखा, वह मनुष्य दुःखों से सर्वथा मुक्त हो जाता है। शरीर से श्रेष्ठ या सूक्ष्म इन्द्रियाँ हैं, इन्द्रियों से श्रेष्ठ या सूक्ष्म मन है मन से श्रेष्ठ या सूक्ष्म बुद्धि है और जो बुद्धि से भी अत्यन्त श्रेष्ठ या सूक्ष्म है वह चेतन आत्मा है। जो अपने चेतन स्वरूप की सबलता, महत्ता, तथा सर्वोपरिता समझता है और जिसे स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करने की अभिलाषा है, वह सत्संग-सद्ग्रन्थ आदि का आधार लेकर अपनी बुद्धि को अपने वश में रखता है, बुद्धि के नियन्त्रित हो जाने पर मन हाथ में आ जाता है और मन के स्ववश हो जाने पर इन्द्रियों पर स्वाधीनता प्राप्त हो जाती है और इन्द्रियों पर स्वाधीनता का पाना ही शरीर पर विजय प्राप्त करना है-

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः।।[11]

कठोपनिषद् में कहा गया है कि यह शरीर एक रथ है इन्द्रियाँ इसके घोड़े हैं, मन लगाम है, बुद्धि सारथी है, तथा जीवात्मा रथी अर्थात् रथ का स्वामी है-

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिस्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।।[12]

यदि रथी, सारथी पर शासन रखे तथा सारथी लगाम कड़ी रखे एवं घोड़े मचलने न पावे तो रथ निश्चित ही ठीक चलेगा। अर्थात् चेतन आत्मा बुद्धि, मन तथा इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखे तो शरीर को विषय-गड्ढे में जाने की बात ही नहीं हैं। जब चतेन आत्मा बुद्धि, की ओर, बुद्धि मन की ओर, मन इन्द्रियों की ओर लालायित रहते हैं, तब चेतन परतन्त्र रहता है और जब इन्द्रियाँ मन की ओर, मन बुद्धि की ओर बुद्धि चेतन (आत्मा) की ओर अभिमुख हो जाती हैं तब उच्चतम स्वतन्त्रता की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि इन्द्रिय, मन और बुद्धि के साथ तादात्म्य न रखकर इन्हें साधन समझकर प्रत्येक मनुष्य को कर्म करना चाहिए। इन्द्रिय, मन और बुद्धि पर विजय प्राप्त करना अति आवश्यक है। जिसकी इन्द्रियाँ दमित नहीं है, मन शमित नहीं है और जिसकी बुद्धि नियन्त्रित नहीं है, वह एकाग्रता नहीं पा सकता। अत एव एकाग्रता पाने के लिए इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि को अपने वश में करना चाहिए। जब मनुष्य बाहरी विषयों को छोड़ देता है तथा इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि पर विजय प्राप्त कर अन्तःकरण को भी स्ववश तथा स्वच्छ कर लेता है, तब वह इच्छा, भय, क्रोध, लोभ एवं मोह आदि से रहित हो जाता है क्योंकि अन्दर-बाहर विषयों का त्याग हो जाने से तथा इन्द्रिय स्ववश हो जाने से कुछ कामना रहती ही नहीं। जब कामना नहीं रहती तब क्रोध उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार जिसने भोगविलास को छोड़ दिया, अपनी इन्द्रियाँ, मन तथा

---

11 श्रीमद्भगवद् गीता, स्वामी चिन्मयान्द, अ0.3, कर्मयोग, पृष्ठ संख्या-163

12 कठोपनिषद् स्वामी चिन्मयानन्द, प्रथम अध्याय, तृतीय वल्ली, पृष्ठ सं.147

बुद्धि को अपने वश में कर लिया, और कामना, क्रोध एवं भय से सर्वथा रहित हो गया, ऐसा पुरुष सदैव मुक्त ही है।

डा. प्रीति राठौर
प्रवक्ता, संस्कृत–विभाग
डी.बी.एस. कालेज, गोविन्द नगर, कानपुर

गीता में श्रद्धा की अवधारणा

भारतीय धर्म परम्परा में श्रद्धा को आत्मनिष्ठा का सहज विश्वास बताया गया है। यह सहज विश्वास मनुष्य के अत:करण में स्वत: ही रहता है। मनुष्य की श्रद्धा जागृत करने के लिये किसी अभ्यास की आवश्यकता नहीं होती है। यह मनुष्य की आन्तरिक स्वीकृति है, जो आत्मा के नियमों पर आधारित है। जो आत्मा पर आधारित होता है उसमें सहजता स्वत: ही रहती है। इसलिये विश्व के सभी धर्मों में श्रद्धा को विशेष महत्त्व दिया गया है और खासकर हिन्दू धर्म एवं दर्शन में तो यह आध्यात्मिकता का केन्द्र बिन्दु है। वेदों और उपनिषदों के बाद श्रद्धा की सबसे ज्यादा व्याख्या श्रीकृष्ण ने गीता में की है। श्रीकृष्ण ने गीता में अनेक आध्यात्मिक रूपों की चर्चा की है। उन्होंने जीवन के धार्मिक मूल्यों की अनेकानेक बातें बतायी है। जिसमें जीव, ब्रह्म, जगत्, माया, योग, कर्म, बुद्धि समभाव, स्वर्ग-नरक दु:ख-सुख, आचारगत नियम, गुरु आज्ञा, पुनर्जन्म, साधना तथा कर्मबन्धन के कारण और निवारण भी बताये हैं। इसके साथ ही उन्होंने ज्ञानयोग, कर्मयोग और बुद्धियोग की विस्तृत समीक्षा की है। अब प्रश्न उठता है कि इन सब बातों की सत्यता का प्रमाण क्या है? क्या पुनर्जन्म प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाण द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। यदि प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाण द्वारा सिद्ध हो सकता है तो कोई नास्तिक होता ही नहीं। पाणिनि ने पुनर्जन्म को न मानने वाले को नास्तिक तथा मानने वाले को आस्तिक कहा है इन सब बातों को कैसे सिद्ध किया जाए? पुनर्जन्म के पक्ष में हम जो भी तर्क देंगे, नास्तिक उसके प्रतिपक्ष में अवश्य युक्ति प्रस्तुत कर देगा, क्योंकि प्रत्येक तर्क का प्रतितर्क अवश्य होता है। अत: आस्तिक भाव के लिये श्रद्धा ही एकमात्र साधन बच जाता है। मनु ने कहा है कि वेद से वे सत्य जाने जाते हैं, जिन सत्यों को प्रत्यक्ष अथवा अनुमान द्वारा नहीं जाना जा सकता-

प्रत्यक्षेणामित्या वा यस्तूपायो न विद्यते।
तद्विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता।।

इसलिये सभी आस्तिकों को प्रत्यक्ष अथवा अनुमान के अतिरिक्त आगम प्रमाण भी मानना पड़ता है। साथ ही यह भी मानना पड़ता है कि आगम प्रमाण में अनुमान की बात ही क्या, प्रत्यक्ष प्रमाण का भी दखल नहीं है। प्रश्न होता है कि ऐसे में अनुमान प्रमाण अर्थात् तर्क का क्या महत्त्व है। उत्तर है कि तर्क का उपयोग वेद की रक्षा करने के लिये है, न कि वेद का खण्डन करने के लिये। वेद का मण्डन करे तो वह तर्क तो स्तुत्य है किन्तु वेद का खण्डन करे तो वह तर्क निन्दनीय है। क्योंकि वह हमारी श्रद्धा को ही काट देता है।

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः॥[1]

वैदिक धर्म न तो अन्धविश्वासी है न बुद्धि विरुद्ध। वह तो अच्छे कर्मों की ओर प्रेरित करता है। अच्छे कर्म का फल अच्छा और बुरे कर्म का बुरा फल होता है। यदि हमारा यह विश्वास ही डिग जाये तो हमारा जीवन लक्ष्य से भटक जायेगा। इस विश्वास के बिना तो समाज भी विखण्डित हो जायेगा। आज यही हो रहा है। हम यह देखते हैं कि भ्रष्ट तरीकों से धनार्जन करने वाले फल-फूल रहे हैं और ईमानदारी से रोजी रोटी का गुजारा करना भी मुश्किल हो गया है। ऐसे में ईमानदार व्यक्ति का विश्वास डोल जाता है। लगता है धर्मशास्त्र ढ़कोसला है। अधर्माचरण से अनिष्ट होना तो दूर प्रत्युत अधर्मी पुरस्कृत हो रहे हैं। उन्हें पैसा ही नहीं पद और प्रतिष्ठा मिल रही है। फिर धर्माचरण क्यों किया जाये? यह स्थिति कोई नई नहीं है। मनु ने इस स्थिति को देख लिया था और यह घोषणा की थी कि ठीक है कि अधर्म से मनुष्य उन्नति करता है, सारे सुख वैभव भोगता है और अपने साथियों से आगे भी निकल जाता है किन्तु वह समूल जड़ से नष्ट हो जाता है।

अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति॥[2]

बहुत कठिन है उस मूल को देख पाना जो अधर्माचरण से नष्ट हो जाता है। अर्थ से शरीर और काम से मन पुष्ट और तुष्ट हो जाते हैं किन्तु अधर्मपूर्वक अर्जित अर्थकाम अन्तरात्मा की शान्ति भंग कर देते हैं। जहाँ शान्ति नहीं है, वहाँ संसार का समस्त वैभव भी सुख नहीं दे सकता। इसलिये वेद व्यास ने तो धर्म के बिना अर्थ और काम की सिद्धि मानी नहीं। उनका कहना है कि मैं दोनों भुजायें उठाकर कह रहा हूँ। किन्तु मेरी बात कोई सुनता ही नहीं है, धर्म से ही अर्थ और काम की सिद्धि होती है, फिर धर्म का सेवन क्यों नहीं किया जाता?

ऊर्ध्वबाहुर्विरोम्येष न च कश्चिच्छृणोति माम्।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किन्न सेव्यते॥

दो मनीषियों के दो विरोधाभासी स्वर हैं। मनु कह रहे हैं अधर्म से सब सुख वैभव मिलता है व्यास कह रहे हैं अर्थ काम की सिद्धि धर्म से ही होती है।

यह समझना होगा कि सरस्वती और लक्ष्मी में अन्तर है। सरस्वती व्यक्ति के व्यक्तित्त्व में निखार लाती है। लक्ष्मी के चिह्न हैं कि जमीन जायदाद धन दौलत और आभूषण हों किन्तु व्यक्तित्त्व दीनहीन हो। करोड़ों का बैंक बैलेंस है किन्तु शरीर व्याधियों का मन्दिर और मुख मलीन है। यह लक्ष्मीपति का रूप है। सरस्वती पुत्र के पास सम्पत्ति

---

1 मनु0 2.11
2 मनु04.174

इतनी ही है, जितने से उनकी आवश्यकता पूरी हो जाये। किन्तु शरीर कान्ति से देदीप्यमान है अधर्म से व्यक्ति लक्ष्मीपति बन सकता है किन्तु श्रीमान् धर्माचरण से ही बन पाता है। जब किसी करोड़पति के अधर्माचरण का भण्डा फूटता है तो न्यायालय में जाते समय अपना मुख भी वह कपड़े से ढ़क लेता है। श्रीहीन को मुख दिखाने से लज्जा आती है। यह अधर्माचरण से प्राप्त सुख का स्वरूप है। इसे ही मनु ने जड़ का सूख जाना कहा है। यह हम देख रहे हैं किन्तु फिर भी यदि अधर्माचरण से लाभ होता दिखाई दे तो मन फिसल ही जाता है। ऐसा क्यों होता है क्योंकि हममें श्रद्धा का अभाव है।

श्रीकृष्ण कहते हैं जो मनुष्य मेरे मत का नित्य श्रद्धायुक्त तथा अनसूयापूर्वक पालन करते हैं। वे ही कर्मबन्धन से छूट जाते हैं और जो अनसूयापूर्वक मेरे मत का पालन नहीं करते वे ज्ञान से विमूढ़ होकर मूर्च्छा में रहते हुये नष्ट ही हो जाते हैं।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः।।
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः।।[3]

ज्ञानियों का मत है कि कर्म छोड़ देना चाहिए। गीता में इसे सांख्यमत कहा गया है। कर्मवादियों का कहना है कि जब तक जीवन है, कर्म करते ही रहना चाहिये। यह पूर्व मीमांसिसकों का मत है। इन दोनों ही मतों के समर्थन में श्रुति प्राप्त हो जाती है। श्रीकृष्ण का मत है कि कर्म तो करने चाहिये किन्तु फल की इच्छा नहीं करनी चाहिये, यही बुद्धियोग है। सांख्यमत कपिल का है, कर्ममार्ग हिरण्यगर्भ का है। बुद्धियोग गीता का है। इस बुद्धियोग में कर्म और ज्ञान दोनों का समन्वय हो जाता है। इसी बात को गीता ने इस रूप में कहा कि अल्पज्ञानी सांख्य और कर्मयोग को अलग-अलग बताते हैं, बुद्धिमान् लोग नहीं। **सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।** (गीता5.4।।) यही भगवान् के मत का वैशिष्ट्य है कि जिसके सम्बन्ध में वे कहते हैं कि साधक को उस मत में श्रद्धा रखनी चाहिये। यद्यपि इस मत का प्रतिपादन श्रीकृष्ण जी ने पहले युक्तिपूर्वक कर दिया है, तथापि कोई भी प्रखर तार्किक उनके मत के विरुद्ध तर्क दे सकता है, वस्तुतः तर्क से कुछ भी सिद्ध नहीं किया जा सकता।

श्रद्धा अपने से बड़े के प्रति होती है। गुरु और शास्त्र हमसे ऊपर हैं, उनके प्रति श्रद्धा का अर्थ है कि वहाँ तर्क का उपयोग उनके समर्थन में ही किया जाये। किन्तु बार-बार हमारा मन कुतर्क करता है और हम श्रद्धा से विचलित हो जाते हैं। इसलिये तो यह स्थिति बनती है कि हम धर्म का स्वरूप जानते हुए भी धर्म का आचरण नहीं कर पाते और अधर्म को हेय समझाने पर भी अधर्म से हट नहीं पाते।

3 गीता3.31-32

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः। जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।।

ऐसे में मन की श्रद्धा को स्थिर बनाने के लिये बुद्धि का सहयोग आवश्यक है। तभी धर्म का अनुष्ठान नित्य हो सकता है और श्रद्धापूर्वक धर्मशास्त्रों की बातों को आचरण में लिया जा सकता है।

डॉ० किशनाराम बिश्नोई
प्रभारी
गुरु जम्भेश्वर धार्मिक अध्ययन संस्थान
गुरु जम्भेश्वर विश्वविद्यालय, हिसार

आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य में पर्यावरण संरक्षण

बंकिमचन्द चटर्जी के **'सुजलां सुफलां मलयजशीतलां शस्यश्यामलाम्'** में जिस पृथ्वी का चित्र अंकित है, उसमें पर्यावरण संरक्षण का समग्र जीवन दर्शन निहित है। आधुनिकतम वैज्ञानिक उपायों से भौतिक संसाधनों का विकास तो हुआ है। देश की जनसंख्या का एक बड़ा भाग छोटे-बड़े उद्योगों में लगा हुआ है। परन्तु यदि खुली हवा में साँस न लिया जा सके, प्रकृति प्रदत्त जल पिया न जा सके तथा पृथ्वी से उत्पन्न अन्न एवं फल खाया न जा सके तो विकास की सभी व्यवस्थायें अर्थहीन हो जायेंगी।

प्राचीन ऋषियों ने पर्यावरण की महत्ता को समझकर ही वन-उपवन लगाने की परम्परा आश्रम के साथ डाली थी। अग्नि, हवा, पर्जन्य, वरुण, सोम, सविता, पृथ्वी, वृक्ष इत्यादि सभी वैदिक ऋषियों के पूज्य रहे हैं। भारतीय दृष्टिकोण में प्रकृति हमेशा से पूजनीय रही है। प्राकृतिक शक्तियों की यह उपासना श्रद्धा संवलिता कृतज्ञता की अभिव्यक्ति थी। भूमंडलीय पर्यावरण संरक्षण हेतु प्राकृतिक शक्तियों के सन्तुलन विषयक ऋषियों द्वारा की गई मंगलकामना द्रष्टव्य है-

ओम् द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथ्वी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिः सर्वꣳशान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि।।[1]

पर्यावरण के प्रमुख घटक वृक्ष वनस्पतियों के संरक्षण के सन्दर्भ में प्राचीन दृष्टिकोण आज भी अत्यन्त उपयोगी एवं व्यावहारिक है। ज्ञातव्य है कि कुछ वृक्षों में एक रस स्राव 'मेलाटोनिन' पाया जाता है।[2] यह हारमोन केले, पीपल और बरगद जैसे पेड़ों में सर्वाधिक परिमाण में पाया जाता हैं। शायद इसीलिये धार्मिक और आध्यात्मिक कृत्यों में इनका ज्यादा महत्त्व बताया गया है। ज्यादातर धर्मकृत्यों में केले के तने और पत्तियों के प्रयोग का विधान है। गीता में श्रीकृष्ण ने पेड़ों में स्वयं को पीपल बताया है। बुद्ध को बुद्धत्व की प्राप्ति बरगद के नीचे ही प्राप्त हुई थी। वैज्ञानिकों की मान्यता है कि इस हारमोन की वजह से व्यक्ति को चिरयुवा बनाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त वृक्ष वनस्पतियों में चेतना की स्वीकृति, देवत्व की प्रतिष्ठा, पारिवारिक सम्बन्धों की अभिव्यक्ति पाप-पुण्य की अवधारणा आदि प्राचीन अवधारणायें पर्यावरण संरक्षण की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

मत्स्य पुराण में पुत्रों से भी अधिक वृक्षों के महत्त्व का प्रतिपादन करने वाला निम्न कथन पर्यावरण की दृष्टि से अतिसार्थक है-

1 शुक्ल यजुर्वेद

2 द्रष्टव्य अखण्ड ज्योति मासिक पत्रिका, अक्टूबर1996 पृ017

'दशकूपसमो वापी, दशवापी समो ह्रदः।
दशह्रदसमः पुत्रो, दशपुत्रसमो द्रुमः॥'

अर्थात् दसकूप के समान पुण्य एक वापी बनाने में, दस वापी का पुण्य एक तालाब बनवाने में, दस तालाबों का पुण्य एक पुत्र से तथा दस पुत्र के समान पुण्य एक वृक्ष लगाने से होता है। कुपुत्र या धर्मविमुख पुत्र से अपयश की आशंका रहती है, लेकिन वृक्षरूपी पुत्र तो सदा कल्याणकारी होते हैं-

'पुत्रैर्विना शुभफलं न भवेन्नराणाम्,
दुष्पुत्रकैरपि तथोभयलोकनाशः।
एतद्विचार्य सुधिया परिपाल्यवृक्षान्,
यत्नेन वेदविधिना परिकल्पनीयाः॥'[3]

वृक्षों की पुत्ररूप से प्रतिष्ठा तथा इससे भी बढ़कर उनके प्रति कृतज्ञता एवं श्रद्धा का भाव प्रायः प्रत्येक पुराण में मिलता है। वृक्षों की धर्मपुत्र या पुत्ररूप में मान्यता का उल्लेख अग्निपुराण में निम्नप्रकार से किया गया है-

तस्माद् सुबहवो वृक्षा रोप्या श्रेयोऽभिवाञ्छता।
पुत्रवत् परिपाल्याश्च ते पुत्रा धर्मतः स्मृताः॥ अग्नि पुराण

प्रायः समस्त संस्कृत साहित्य पर्यावरण संरक्षण के इस महत्त्वपूर्ण तथ्य से परिचित था। महाभारत में तो वृक्षों को पुत्र के समान मनुष्यों को तारने वाला तथा यश प्रदान करने वाला बताया गया है

पुष्पिताः फलवन्तश्च तर्पयन्तीह मानवान्।
वृक्षदं पुत्रवद् वृक्षास्तारयन्ति परत्र तु॥[4]

न केवल वृक्ष वनस्पतियों वरन् धार्मिक व्रत अनुष्ठान, त्यौहार, पूजापद्धति इत्यादि सभी क्रियाओं में पर्यावरण संरक्षण की व्यापक भावना समाहित है। श्रीकृष्ण का गोवर्धन पूजा का संदेश पर्यावरण के प्रति इसी सजगता का निदर्शक है। पर्वत शिखर मेघों को रोककर वर्षा के कारक बनते हैं। राजस्थान की अरावली पर्वत श्रेणियों के आस-पास अच्छी वर्षा तथा शेष भाग में तपता दहकता रेगिस्तान इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। कृषि का सफल होना मेघों पर निर्भर है। संस्कृत कवि कालिदास ने मेघदूत में मेघ की इसी महत्ता को समझकर ही उससे भ्रातृत्व सम्बन्ध स्थापित किया है। यदि इसके मर्म को न समझकर इसके स्वरूप धूम, ज्योति, जल और हवा को प्रदूषित होने से नहीं बचाया गया तो उसकी

---

3 ब्रह्मवैवर्त पुराण

4 अनुशासन पर्व30

तेजाबी वर्षा जल को तेजाब में बदल देगी। जो मानव ही नहीं बल्कि समूची प्रकृति के विनाश का कारण सिद्ध होगी।

पर्यावरण की शुद्धता का रहस्य भी हमारे त्यौहारों में छिपा है। निदर्शन के लिये होली का त्यौहार ही लें। शीतकाल का संचित कफ वसन्त की गरमी पाकर पिघलता है। उसके सब कीटाणु शरीर में फैलकर नाना रोग पैदा करते हैं। यह ऋतु कफरोग के लिये आयुर्वेद और लोक में प्रसिद्ध है। विशेषकर बालकों को भिन्न-भिन्न प्रकार के रोग इस मौसम में होते हैं। घरों में शीतकाल में पूर्व गरमी न पहुँचने के कारण कई प्रकार की हानि करते हैं। शरीर में उत्साह लाना, कूदना, अग्नि जलाकर उसके पास रहना, ऊँची आवाज से गाना आदि सभी काम कफ के निवर्तक हैं। इन वैज्ञानिक अनुष्ठानों से कफ रोगों की निवृत्ति में किसी को सन्देह नहीं। इस अवसर पर हास्यरस प्रधान गान और यथेच्छ भाषण स्वभावतः उच्च स्वर से बोले जाने के कारण कफ हट जाने से फेफड़े साफ हो जाते हैं।

आज का मानव पूर्णतया भौतिकता में निमग्न है। स्वार्थ के वशीभूत मानव अपने परिवेश के प्रति संवेदना शून्य हो गया है। पर्यावरण संरक्षण की प्राचीन महत्ताओं को अज्ञानतावश या आधुनिकतावाद के कारण न समझकर विनाश के दलदल में फंसता चला जा रहा है। वनों की अंधाधुंध कटाई से पर्यावरण सन्तुलन का आधार डगमगा रहा है। सबके मूल में एक संकट है-जनसंख्या वृद्धि। आज हम जहाँ रह रहे हैं, उसके साधन सीमित हैं। आबादी बढ़ने के साथ-साथ अन्न उत्पादन भी बढ़ना चाहिये। खाद्यान्न उत्पादन नई-नई वैज्ञानिक विधियों द्वारा बढ़ाया जा रहा है। इससे तात्कालिक राहत तो जरूर मिल रही है। लेकिन इन रासायनिक उर्वरकों तथा कीटनाशक दवाओं का प्रयोग उपभोक्ता और मिट्टी की उर्वरता दोनों के लिये गम्भीर परिणाम की चेतावनी है। दूसरी मुख्य समस्या आवास की है। जमीन का दो तिहाई भाग जल से भरा है। एक तिहाई हिस्से में पर्वत, वन सभी सम्मिलित हैं। यदि आवास योग्य भू-भाग में ही आबादी को रखा जाय तो यह एक छोटे से बाड़े में अनेक पशुओं को रखने जैसी स्थिति हो जायेगी। ऐसे वातावरण में सभी के लिये शुद्ध हवा, प्रकाश एवं जल की कल्पना निरर्थक है। ऐसे में विकल्प बचता है वनों को काटा जाये, पहाड़ों को समतल बनाया जाये। इससे प्रकृति और पर्यावरण दोनों प्रभावित होंगे। जंगल कटेंगे तो वर्षा घटेगी, आबादी बढ़ेगी तो उद्योग बढ़ेंगे। उद्योग बढ़ेंगे तो प्रदूषण बढ़ेगा और पर्यावरण अस्वास्थ्यकर बनता चला जायेगा। विश्व जन सांख्यिकी रिपोर्ट के अनुसार दुनियाँ की कुल आबादी आज से 9 हजार साल पूर्व मात्र 45 लाख थी। सन् 1501 में यह 44 करोड़, 1630 में 52 करोड़, 1855 में 98 करोड़, 1950 में 210 करोड़, 1975

में 400 करोड़ तथा 1996 में 620 करोड़ हो गई।[5] इस प्रकार जनसंख्या वृद्धि को पर्यावरण प्रदूषण का सबसे प्रमुख कारण कहा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त विलासिता के लिये किये जा रहे आविष्कारों से भी पर्यावरण का खतरा मंडरा रहा है। पर्यावरण प्रदूषण का गम्भीर स्रोत परमाणु अस्त्रों के परीक्षण निर्माण और दुर्घटना से जुड़ा है।

आधुनिक विकास की जो भी रीति या नीति रही है, इसके द्वारा भौतिक संसाधनों का विकास तो हुआ है, परन्तु मानवता का अपेक्षित विकास नहीं हुआ। प्रकृति और मनुष्य एक दूसरे के पूरक हैं। एक के अभाव में दूसरे के सद्भाव की कल्पना नहीं की जा सकती है। प्राचीन ऋषि आश्रमों में जहाँ विवाह, पुत्र जन्मोत्सव आदि शान्तिमय वातावरण में सम्पन्न होते थे, वहीं आज छोटे-छोटे कार्यों में भी लाउड स्पीकरों की भयावह ध्वनि लोगों के सुनने की शक्ति में ह्रास पैदा कर रही है। स्वस्थ पर्यावरण में पलने के कारण ही दुष्यन्त पुत्र भरत में सिंह शिशु के साथ खेलने की क्षमता रही है। यज्ञाग्नि में डाली गई विधिवत् आहुतियों से वर्षा होती है। जिससे शस्यश्यामला धरती परिकल्पित है। किन्तु आज बढ़ते उद्योगों के कारण वायु प्रदूषण का गम्भीर खतरा बना हुआ है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि भौतिक विकास के लिये किये जा रहे सम्पूर्ण प्रयास पूर्णतया व्यर्थ हैं। अपितु आवश्यकता है वर्तमान विचारधाराओं तथा प्राचीन तथ्यपूर्ण मान्यताओं में समन्वय स्थापित करने की। जरूरत औद्योगिक विकास और भौतिक उन्नति को अवरुद्ध करने की नहीं, अपितु इसके मूल में प्रवाहमान पाश्चात्त्य एकांगी विचार धारा में परिवर्तन की है। इसके लाभ और हानि को समझते हुए इस उन्मत्त हाथी के ऊपर अंकुश रखा जाये। भौतिक प्रगति के इस बाघ को यदि खुला छोड़ा गया तो यह किसी को छोड़ने वाला नहीं है। इस टेक्नोलॉजी और बौद्धिक विकास, आर्थिक विकास के पीछे आध्यात्मिकता का अंकुश उसी प्रकार रखा जाये जिस प्रकार पागल हाथी के सूँड के ऊपर एक अंकुश रखा जाता है। आध्यात्मिकता का अभिप्राय केवल धार्मिक अनुष्ठानों से नहीं है, बल्कि मानवता से है, प्राणिमात्र की कल्याणभावना से हैं तथा कर्तव्य परायणता से हैं। जिसके विकास से परमाणु अस्त्रों की विभीषिका तथा भीषण रक्तपातादि जनित प्रदूषणों से सहज मुक्त हुआ जा सकेगा। पर्यावरण प्रदूषण का कारण बने इन अस्त्र-शस्त्रों के निर्माणादि पर जो धन-बल लग रहा है, उसे राष्ट्र के अन्यत्र विकास में लगाया जा सकेगा। बड़े-बड़े उद्योगों से उत्पादन

---

5 द्रष्टव्य अखण्ड ज्योति मासिक पत्रिका, दिसम्बर1996 पृ033

तो बढ़ता है किन्तु उनसे उत्पन्न होने वाली घातक विषाक्तता उत्पादन की अपेक्षा अधिक मँहगी पड़ती है, प्रदूषण वृद्धि रोकने के लिये बड़े उद्योगों को कुटीर उद्योगों में परिवर्तन किया जाये। जिससे उत्पादन में कमी तो हो सकती है किन्तु दूरगामी परिणामों की दृष्टि से देखा जाये तो बड़े उद्योगों की अपेक्षा प्रदूषण में कमी अवश्य होगी। आवश्यकताओं को कम करके काम चलाया जा सकता है। किन्तु उद्योगों के प्रदूषण की प्रतिक्रिया स्वरूप होने वाले प्राकृतिक विक्षोभों को सहन करना असह्य है। पर्यावरण के परिशोधन के लिये प्राचीन ऋषि चिन्तन को जनसामान्य के चिन्तन में उतारा जा सकता है। पर्यावरण की शुद्धता के साथ-साथ कर्तृत्व की निकृष्टता तथा चिन्तन की भ्रष्टता का परिष्कार सम्भाव्य है प्राचीन चिन्तन की सार्थकता और उद्देश्य को समझ लेने पर शायद हम पर्यावरण को बचा पायेंगे और मानव जीवन को सुरक्षित कर सकेंगे।

डॉ० जगत नारायण त्रिपाठी
सहायक प्राध्यापक-संस्कृत
शासकीय संस्कृत महाविद्यालय
देवेन्द्र नगर, पन्ना (म0प्र0)

पौराणिक सन्दर्भों व काव्य रूढ़ियों के प्रतिनिधि कवि बाणभट्ट

बाणभट्ट के गद्यकाव्य की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता उनके विस्तृत वर्णन हैं, जहाँ शब्दों का कलात्मक विनिवेश पाया जाता है। अलंकृत शैली की यह प्रधान विशेषता है कि उसमें लघु कथानक का विस्तार से वर्णन किया जाता है। इस प्रकार बाण ने अपने अलंकृत गद्यकाव्य में विस्तार की छूट मिलने से जिस विषय का भी वर्णन किया है उसका चित्र सा उपस्थित कर दिया है। इसके लिए वर्णन में अनुरणात्मक ध्वनि और लय को वे सहज ही उपस्थित कर देते हैं। उनकी उपमाएँ विषय को और भी विशद और रंगीन बना देती हैं। बाण ने अपने विस्तृत वर्णनों में पहले स्वभावोक्ति के द्वारा विषय का यथार्थ चित्रण किया है। तत्पश्चात् विषय के सम्पूर्ण स्वरूप को अधिक स्पष्ट और वास्तविक बनाने के लिए उपमा और उत्प्रेक्षा का प्रयोग करते हैं और अन्त में शब्दचित्र का वैचित्र्य लाने के लिए श्लेष, विरोध, परिसंख्या आदि का सन्निवेश करते हैं।

बाण के गद्य काव्य की दूसरी विशेषता प्रकृति के भयावह और मधुर दोनों रूपों का विशद चित्रण किया है। बाण प्रकृति के परम प्रेमी थे। अनेक स्थानों का भ्रमण करने के कारण कवि ने प्रकृति के रंगीन, मधुर, मृदु, रूक्ष और भयानक आदि अनेक रूपों का दर्शन कर अपने काव्य में उतारा है।

बाणभट्ट के गद्यकाव्य की तीसरी विशेषता मानवीय सौन्दर्य का अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन है। कादम्बरी और महाश्वेता के सौन्दर्य में बाण की कल्पनाशक्ति पराकाष्ठा को पहुँच जाती है। कादम्बरी के सौन्दर्य में कवि की कल्पना की उड़ान द्रष्टव्य है-

अभिनवयौवनपवनक्षोभितस्य रागसागरस्य तरंगाभ्यामिवोद्गताभ्यां विद्रुमलतालोहिताभ्यामधराभ्यां रक्तावदातस्वच्छकान्तिना च मदिरारसपूर्ण-माणिक्यशुक्तिसंपुटच्छविना कपोलयुगलेन रतिपरिवादिनीरत्नकोणचारुणा नासावंशेन च विराजमानम्।[1]

इसी प्रकार महाश्वेता की अवदात देहच्छवि का वर्णन[2] और संचारिणी-इन्द्रनीलमणि की पुतली की भाँति चाण्डाल कन्या का रूप भी कम मनोहारी नहीं हैं।[3] बाण ने अपने

---

1 कादम्बरी-पृ0 701.

2 कादम्बरी-पृ0 497. अन्तर्द्रष्टुरपि लोचनपथप्रविष्टेन श्वेतिमानमिव मनोनयन्तीम्, अतिधवलीप्रभा-परिगतदेहतया स्फटिकगृहगतामिव दुग्धसलिलमग्नामिव विमलचेलांशुकान्तरितमिव आदर्शतलसंक्रान्तमिव शरदभ्रपटलतिरस्कृतमिव अपरिस्फुटविभाव्यमानावयवाम्......................

3 कादम्बरी-पृ0 36. असुरपरिगृहीतामृतापहरणकृतकपटपटुविलासिनीवेषस्य श्यामतया भगवतो हरेरिवानुकुर्वतीम्, संचारिणीमिवेन्द्रनीलमणिपुत्रिकाम्, गुल्फावलम्बितनीलकुञ्चकेनावच्छन्नशरीरम्,

सौन्दर्य वर्णन में काव्य रूढ़ियों का उपयोग किया है। उन्होंने वक्रोक्ति मार्ग को अपनाया।

वक्रोक्ति मार्ग एवं पाञ्चाली रीति का प्रतिनिधित्व-

बाण सौष्ठव काल (अलंकृत) के महान् कवि थे। तत्कालीन उत्कृष्ट शैली के आदर्श थे। वक्रोक्तिमय श्लिष्ट प्रयोग, सरस कल्पनाएं, समास बहुलता तथा वस्तुवर्णन में दीर्घकाय वाक्यों की योजना होती है। बाण के गद्य काव्य में ये विशेषताएं स्पष्ट परिलक्षित होती हैं। बाण ने अपने गद्य काव्य में वक्रोक्तिमय सरल श्लिष्ट प्रयोग किए हैं। आचार्य भामह ने वक्रोक्ति को व्यापक रूप में वाक्य का भूषण माना है। अत: उनके अनुसार काव्य का वक्रोक्ति गर्भित होना आवश्यक है। यथा-

वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः।[4]

वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते।[5]

भामह ने अतिशयोक्ति अलंकार के निरूपण में वक्रोक्ति का महत्त्व स्पष्ट कर दिया है। पहले वे अलौकिक वर्णन को अतिशयोक्ति अलंकार बताते हैं और फिर वक्रोक्ति का महत्त्व प्रतिपादित करते हैं-

सर्वैवातिशयोक्तिस्तु तर्कयेत् तां यथागमम्।

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।

यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना।[6]

बाण के काव्य में जैसा शब्द वैचित्र्य मिलता है, वैसा अन्यत्र नहीं मिलता। बाण ने भी वक्रोक्तिमार्ग अपनाया है। उनके गद्यकाव्य में अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णनों की बहुलता है और इन अलौकिक वर्णनों में उन्होंने वक्रोक्ति का प्रयोग किया है।

अलंकार सम्प्रदाय में तो समस्त अलंकारों के मूल में वक्रोक्ति को स्वीकार किया गया है। भामह अलंकार सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे। बाणभट्ट ने अलंकार सम्प्रदाय द्वारा प्रतिपादित वक्रोक्ति मार्ग को अपने गद्यकाव्य के लिए उपयुक्त माना है। उनकी कादम्बरी में वक्रोक्तिमय श्लिष्ट प्रयोगों की भरमार है। यथा-

निरन्तरश्लेषघनाः सुजातयो महास्त्रजश्चम्पककुड्मलैरिव।[7]

आचार्य दण्डी ने अपने काव्यादर्श में भामह द्वारा प्रतिपादित वक्रोक्ति के महत्त्व को

उपरिरक्तांशुकरचितावगुण्ठनाम्, नीलोत्पलस्थलीमिव निपतितसंध्यातपाम्, एककर्णावसक्तदन्तपत्र-प्रभाधवलितकपोलमण्डलाम्, उद्यदिन्दुकिरणच्छुरितमुखीमिव विभावरीम् ....।

4 काव्यालंकार 1.16

5 काव्यालंकार 5.66

6 काव्यालंकार 2.84-85.

7 कादम्बरी भूमिका 9

इन शब्दों में स्वीकार किया है।-

श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रयोगवक्रोक्तिषु श्रियम्।[8]

इस प्रकार अलंकृत शैली में श्लेष का महत्त्व है और श्लेष का पोषण वक्रोक्ति से होता है।

वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा माना है।[9] वक्रोक्ति से युक्त श्लिष्ट प्रयोग से ही बाणभट्ट कादम्बरी में अलौकिक एवं अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन करने में सफल हुए हैं।

पाञ्चाली रीति

बाण पाञ्चाली रीति के प्रतिनिधि कवि हैं। पाञ्चाली रीति की प्रंशसा भोज ने इस प्रकार विशेषित की है।

शब्दार्थयोः समो गुम्फः पाञ्चाली रीतिरिष्यते।

शीला भट्टारिका वाचि बाणोक्तिषु च सा यदि।।[10]

बाण भी भाषा में पाञ्चाली रीति के अनुरूप समान रूप से गुम्फन कर शब्दों और अर्थों का अपूर्व समन्वय उपस्थित करते हैं। कादम्बरी में बाण ने राजकुल का वर्णन करते हुए उत्कृष्ट कवि की विशेषताओं का वर्णन इस प्रकार किया है-

उत्कृष्टकवि गद्यमिव विविधवर्णश्रेणीप्रतिपाद्यामानाभिनवार्थसंचयम्।

अर्थात् उत्कृष्ट कवि के गद्य में अभिनव अर्थ और चमत्कृति का अपूर्व समन्वय होना चाहिए। बाण ने हर्षचरित और कादम्बरी के प्रारम्भिक श्लोकों में अपने इस लक्ष्य की स्पष्ट अभिव्यक्ति भी की है-

नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः।

विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम्।।[11]

बाण के गद्यकाव्यों में उपर्युक्त सभी गुणों का सुन्दर समन्वय है। बाण की दृष्टि में एकांगी रचना सर्वप्रिय नहीं हो सकती, अतः उन्होंने प्रयत्न किया है कि श्लेष, अर्थगौरव, उत्प्रेक्षा और समस्त पदावली भावानुकूल भाषा और विषयानुरूप शैली इन सभी का एकत्र सन्निवेश हो। उन्होंने कथासरित्सागर के नीरस कथानक को इस प्रकार संजोया है कि उसमें कुछ भी प्राचीनता नहीं झलकती, हर वृत्तान्त नया होकर ही सामने आया है। चाहे विदिशा

---

8 काव्यादर्श 2.36

9 वक्रोक्तिजीवितम्

10 सरस्वती कण्ठाभरण. भोज

11 हर्षचरित-8

का वर्णन हो या राजा शूद्रक का, चाण्डाल कन्या का या शुक का। विन्ध्याटवी तो साकार होकर पाठक के समक्ष प्रस्तुत होती है।[12] जाबालि का आश्रम जहाँ अन्धवृद्ध तापस यष्टियों के सहारे वानरों द्वारा कुटियों में से बाहर भीतर लाये ले जाए जा रहे हैं, आदि विषय की नीवनता के साथ-साथ काव्य-रूढ़ियों से ओतप्रोत हैं।

प्राकृतिक वर्णनों में विविध दृश्यों का विशद वर्णन करने के पश्चात् बाण ने श्लेष तथा परिसंख्या आदि अलंकारों की सुन्दर छटा से युक्त वाक्य प्रयुक्त किए हैं। पम्पासरोवर के वर्णन में समस्त किन्तु मधुर शब्दावली की शोभा विशेष रूप से द्रष्टव्य है-

उन्निद्रारविन्द-मधुबिन्दु-निष्यन्द-बद्धचन्द्रकम्, अलिकुलपटलान्ध-कारितसौगन्धिकम्, सारसितसमदसारसम्, अम्बरुह-मधुपानमत्तकलहंस-कामिनीकृतकोलाहलम्, अनिलोल्लोसितकल्लोलशिखरसीकरारब्धदुर्दिनम्, अशाङ्कतावतीर्णभिरम्भः क्रीडारागिणीभिः स्नानसमये वनदेवताभि् केशपाशकुसुमैः सुरभीकृतम्, ... अगाधमनन्तमप्रतिममपांनिधानं पम्पाभिधानं पद्मसरः।[१३]

जहाँ कवि ने पम्पा सरोवर के वर्णन में मधुर पदावली प्रयुक्त की है, वहीं वह विन्ध्याटवी, चण्डिका शबर सेनापति आदि के भयानक रूपों का वर्णन करने के लिए कठोर और कर्णकटु शब्दों की योजना करता है।

ग्रीष्म का यह वर्णन देखिए-

"रुधिराहुतिभिरिव परिभद्रमस्तवकवृष्टिभिस्तर्पयन्तस्तारवान् विभावसून ....[14]

जाबालि के आश्रम का वर्णन कालिदास के कण्व आश्रम जैसा स्वाभाविक है यथा-

अनतिदूरमिव गत्वा दिशि दिशि सदा सन्निहितकुसुमफलैस्तालतिलकतमालहिन्तालबकुलबहुलैरेलालताकुलितनालिकेरी कलापैः .... आश्रममपश्यम्।"[१५]

बाण ने अपने गद्य में समासों का प्रचुरता से प्रयोग किया है, तीन प्रकार की समास शैली उनके गद्य में मिलती है (1) दीर्घ समास वाली उत्कलिका शैली (2) अल्प समास वाली चूर्णक शैली (3) समास रहित आविद्ध शैली। बाण के वर्णन उत्कलिका शैली में

---

12 कादम्बरी-कथामुखम्-पृ073. क्वचित्प्रलयवेलेव महावराहदंष्ट्रासमुत्खातधरणिमण्डला, क्वचिद्-दशमुखनगरीव चटुलवानरवृन्दभज्यमानतुंगशालाकुला, क्वचिदचिरनिर्वृत्तविवाहभूमिरिव हरितकुश-समित्कुसुमशमीपलाशशोभिता, क्वचिदुद्वृत्तमृगपतिनादभीतेव कण्टकिता, क्वचिन्मत्तेव कोकिल-कुलप्रलापिनी, क्वचिदुन्मत्तेव वायुवेगकृततालशब्दाः, क्वचिद्विधवेवोन्मुक्ततालपत्रा, क्वचित्समर- भूमिरिव शरशतनिचिता .... पुष्पवत्यपि पवित्रा विन्ध्याटवी नाम।

13 कादम्बरी-कथामुखम्-पृ082.

14 हर्षचरित।

15 कादम्बरी पूर्वभाग पृ0141.

प्रारम्भ होते हैं और आविद्ध शैली में समाप्त होते हैं। बाण की अल्प समास वाली चूर्णक शैली प्रकृति वर्णन के सन्ध्याकालीन चित्रण में इस प्रकार दिखाई देती है-

अनेन च समयेन परिणतो दिवसः। स्नानोत्थितेन मुनिजनेनार्घविधिमुपपादयता यः क्षितितले दत्तहस्तमम्बरतलगतः साक्षादिव रक्तचन्दनांगरागं रविरुदवहत्। ऊर्ध्वमुखरैर्कबिम्बविनिहतदृष्टिभि- रुष्मपैस्तपोधनैरिव परिपीयमानतेजः प्रसरो विरलातपस्तनिमानमभजत् .... क्षणेन चोन्मुखेन मुनिजनेनोर्ध्वविप्रकीर्णैः प्रणामाञ्जलिसलिलैः क्षाल्यमान इवागलदखिलः सन्ध्यारागः।[16]

कादम्बरी उत्तर भाग में उत्कलिका शैली का उदाहरण द्रष्टव्य है-

"कृतहारश्च वैशम्पायनविरहशोकाग्नेर्बहिरपि सन्तापदानाय सहायकमिव कर्तुमुपरिस्थितश्चातिकष्टमष्टास्वपि दिक्षु............[17]

स्थानस्थानेषु पवनबलकुटिलिभिर्कोटिहोमधूमलेखाभिरुल्लासन्तीभिरयम् महिषविषाणकोटिभिरिवोल्लिख्यमानं कृतान्तपाशगुरराभिरिवावेष्ट्यमानम्........[18]

बाण ने इस वर्णन को समासरहित आविद्ध शैली में इस प्रकार पूर्ण किया है।

'शून्यमिव सुप्तमिव मुषितमिव विलक्षितमिव छलितमिव मूर्च्छितमिव स्कन्धावार समाससाद।[19]'

पौराणिक सन्दर्भ

कादम्बरी में पौराणिक सन्दर्भ दो रूप में आए हैं। एक तो किसी स्थल के पूर्ण इतिहास के रूप में और दूसरे विशद वर्णनों में सादृश्यविधान के रूप में। बाण अपने वर्णनों में पौराणिक सन्दर्भ प्रस्तुत करने में अधिक रुचि लेते हैं। चाहे वह विन्ध्याटवी का वर्णन हो या शबर सेनापति का, बाण की प्रतिभा सादृश्यविधान में पौराणिक सन्दर्भ प्रस्तुत करने में जागरूक परिलक्षित होती है।

कादम्बरी में लोककथा की कई रूढ़ियाँ हैं- यथा सर्वशास्त्र विशारद मनुष्य की तरह बोलता हुआ शुक, त्रिकालदर्शी जाबालि, स्वर्गीय वातावरण में रहने वाले किन्नर, गन्धर्व और अप्सराएँ, शाप के कारण आकृति परिवर्तन, पुनर्जन्म की धारणा तथा पूर्वजन्म के जातिस्मरण से संबद्ध कई लोककथा रूढ़ियों की बाण ने विनियोजना की है। बाण के पात्र चन्द्रलोक, गन्धर्वलोक तथा मृत्युलोक में निर्बाध गति से संचार करने वाले आदर्श पात्र हैं। पंचवटी का वर्णन पौराणिक सन्दर्भ से संयुक्त है-**'यत्र च दशरथ-**

---

16 कादम्बरी पूर्वभाग पृ0176.

17 कादम्बरी उत्तर भाग

18 हर्षचरित

19 हर्षचरित

वचनमनुपालयन्नुत्सृष्टराज्यो दशवदनलक्ष्मीविभ्रमविरामो रामो महामुनिमगस्त्यम् अनुचरन् सह सीतया लक्ष्मणो परिचितरुचिरपर्णशालः पञ्चवट्यां कञ्चित्कालं सुखमुवास'।[20]

इसके अतिरिक्त सादृश्यविधान में भी कवि ने पौराणिक सन्दर्भ प्रस्तुत किए हैं।–

शाल्मली वृक्ष के वर्णन में **'दुर्योधन इवोपलक्षितशकुनिपक्षपातः**[२१] आदि विन्ध्याटवी के वर्णन में भी सादृश्य विधान में कवि ने पौराणिक सन्दर्भ दिए हैं, यथा–

क्वचिन्नारायणमूर्तिरिव तमालनीला। क्वचिदमरपतितनुरिव नेत्र सहस्रसङ्कुला क्वचिद्विराटनगरीव कीचकशतकुला गिरितनयेव स्थाणुसङ्गता मृगपतिसेविता च। जानकीव प्रसूतकुशलवा निशाचरपरिगृहीता च।[22]

बाण की शैली एक ओर जहाँ प्रौढ़ साहित्यिक गद्य को सफलतापूर्वक प्रस्तुत करती है, वहीं दूसरी ओर व्यावहारिक गद्य की कसौटी पर भी खरी उतरती है। उन्होंने गद्यात्मक काव्यरूढ़ियों का व पाञ्चाली रीति तथा अलंकृत गद्यशैली का सफल समन्वय प्रस्तुत कर सहृदयों व आलोचकों को आकृष्ट किया है। साथ ही गद्य में सादृश्यविधान या चमत्कार हेतु पौराणिक सन्दर्भों को भी यथास्थान प्रस्तुत किया है।

डॉ0 कपिलदेव द्विवेदी के शब्दों में 'बाण में भाषा का सौन्दर्य, भावों की उदात्तता, विचारों की नवीनता, कला व भाव दोनों पक्षों का समन्वय, अर्थगौरव, अलंकारों का मनोरम प्रयोग, उपमा, श्लेष, परिसंख्या आदि की मनोहर छटा के साथ ही भाषा में संगीतात्मकता का संयोग स्वर्णमाला में मणि की शोभा प्रस्तुत करता है।[23]

इस प्रकार हम देखते हैं कि बाणभट्ट ने अपनी अलंकृत शैली में, अपने स्वच्छन्द स्वभाव के अनुरूप अपने गद्यकाव्य का निर्माण किया है। साथ ही काव्य की रूढ़ियों से व पौराणिक सन्दर्भों के माध्यम से ऐसा धरातल उपस्थित किया है कि पृथ्वी पर स्वर्ण जैसी महिमा मण्डित हुई। पात्रों को भूलोक से आकाश पर्यन्त विचरण करा कर अद्भुत पौराणिक भावना को प्रदर्शित किया व जन्मजन्मान्तर की धारणा को सिद्ध किया है।

श्रीमती डॉ० वीना बिश्नोई

प्रवक्ता संस्कृत-विभाग

कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हरिद्वार

---

20 कादम्बरी कथामुख

21 कादम्बरी कथामुख

22 कादम्बरी कथामुख

23 संस्कृत साहित्य का इतिहास

प्राचीन भारत में सामाजिक संस्थाओं का विकास

भूमिका

परिवार के संगठन के साथ ही समाज के निर्माण और विकास का प्रारम्भ होता है। प्रणय में बंध कर कोई युवक प्रणय के परवश हुई हृदय की प्रिय युवती से विवाह करके परिवार के संगठन को प्रारम्भ करता है। समय के क्रम से सन्तानों की उत्पत्ति होकर यह परिवार बढ़ता है और अनेक परिवारों में विभक्त हो जाता है। तदनन्तर ये परिवार बहुत संख्या में विभक्त होकर आपस में मिल कर विस्तृत और विशिष्ट समाज की संरचना करते हैं। अब समाज की व्यवस्था को ठीक प्रकार से संचालित करने, आपस में सौहार्द को बनाये रखने और अभ्युदय तथा निःश्रेयस् की सिद्धि के लिये प्राचीन समाज के नेता मनीषियों ने विधिध नियमों की स्थापनायें कीं।

समाज के विकास के साथ ही राजनीतिक संस्थाओं की गतिविधियाँ प्रारम्भ हुई। आर्थिक गतिविधियाँ, साहित्यिक और सांस्कृतिक परम्पराओं, लौकिक और आध्यात्मिक विचार-धाराओं का जन्म हुआ तथा धर्म की स्थापना की कल्पना जागृत हुई।

समाज के निर्माण में इतिहास का भी महान् योग है। प्राचीन काल से प्रचलित सामाजिक परम्पराओं, शिक्षा-व्यवस्थाओं और शास्त्रों की संरचनाओं की भित्तियों पर ही वर्तमानकालीन विकास निर्भर है। इससे ही समाज की स्थिति होती है तथा परम्परायें विकसित तथा स्थिर होती है। अतः समाज के विकास के लिए समष्टि एवं व्यष्टि रूप से समुन्नति के लिये, शान्ति और सुख को प्राप्त करने के लिये यह अनिवार्य है कि प्राचीन सामाजिक संस्थाओं का प्राचीन साहित्य के माध्यम से विशद अध्ययन विद्वान् मनीषियों द्वारा किया जाये। इस विषय में अत्यधिक गहन अनुसन्धान कार्य की महती आवश्यकता है।

प्राचीन काल में भारतवर्ष में सामाजिक संस्थाओं के विकास के प्रमाण हमको मुख्य रूप से प्राचीन साहित्य में प्राप्त होते हैं। यह साहित्य मुख्य रूप से निम्न है-

चार वेद (ऋग्वेद-यजुर्वेद-सामवेद-अथर्ववेद), उत्तरवर्ती वैदिक साहित्य (ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद् साहित्य), वेदांग, कल्पसूत्र, स्मृतियाँ रामायण, महाभारत, पुराण, धर्मशास्त्र आदि।

इन ग्रन्थों के अध्ययन से प्राचीन सामाजिक संस्थाओं के विकास का स्वरूप निश्चित रूप से प्राप्त होता है। प्राचीन समय में जिस प्रकार का जनजीवन का विकास हुआ था, जिस प्रकार सामाजिक परम्परायें प्रचलित हुई थीं, उनका परिचय तत्कालीन साहित्य के अध्ययन से निश्चित रूप से होता है। प्राचीन काल के अवशेष भी उस युग की सामाजिक संस्थाओं का परिचय प्राप्त कराने में सहायक होते हैं। ये अवशेष साहित्य में वर्णित अवस्थाओं को प्रमाणित करते हैं।

प्राचीन काल में भारतीय समाज में आर्यजाति के जनों की बहुलता थी। परन्तु आर्यों के समाज के विकास में कुछ थोड़ी सी आर्येतर परम्परायें भी प्रभावशालिनी हुई। उस समय के मुनियों, मनीषियों, शास्त्रकारों ने उन परम्पराओं को ग्रहण कर लिया तथा उनको आर्य परम्पराओं का ही अंग कल्पित कर लिया। आर्यों-आर्येतरों तथा देवों-असुरों के युद्ध-वर्णनों से उनके सौहार्द से भरे सम्पर्कों के भी अनेक उदाहरण प्राचीन ग्रन्थों में प्रचुरता से प्राप्त होते हैं। शबर, निषाद किरात, दाशेर, व्याध, भिन्न-म्लेच्छ-यवन-शक-खश-हूण-कुषाण-पारसीक-कंक आदि जातियों के भारतीय आर्यों के साथ सम्पर्क के प्रचुर वर्णन प्राचीन साहित्य में मिलते हैं। इन वर्णनों से इस तथ्य की पुष्टि होती है।

यह प्रश्न विचारणीय है और विवादास्पद भी है कि आर्यों का मूल अभिजन-स्थान कौन-सा था। कुछ पाश्चात्य इतिहासज्ञ और उनके मत का अनुसरण करने वाले भारतीय इतिहासज्ञ यह प्रमाणित करते हैं कि पूर्व वैदिक काल में आर्यों ने किसी पश्चिमोत्तरवर्ती प्रदेश से प्रवजन करके सिन्धु नदी को पार करके इस भारत देश पर आक्रमण कर अधिकार कर लिया। परन्तु इस भारत देश के आर्य मनीषियों का यह परम्परागत विश्वास है कि आर्यों का मूल देश हिमालय और विन्ध्याचल का मध्यवर्ती भू-भाग था। परन्तु इस विषय में यहाँ विवाद में नहीं उलझ रहे।

निश्चय से यह कहा जा सकता है कि वैदिक युग में इस देश पर आर्य जातियों का ही अधिकार था और यहाँ आर्य संस्कृति की प्रधानता थी। वैदिक संहिताओं तथा उत्तरवर्ती वैदिक साहित्य के प्रबल प्रमाणों से यह तथ्य स्पष्ट रूप से प्रमाणित होता है। आर्यों की संस्कृति को ही आर्येतर जातियों ने भी स्वीकार कर लिया था। आर्येतरों के कुछ गुणों तथा विशेषताओं को आर्यों ने भी स्वीकार कर लिया।

प्राचीन भारतीय समाज का संगठन परिवार से प्रारम्भ होता है। वैवाहिक सम्बन्धों के माध्यम से एक परिवार का उद्भव होता है। अनेक परिवार मिलकर समाज की रचना करते हैं। प्राचीन भारत में परिवारों की संरचना मुख्य रूप से संयुक्त परिवार प्रणाली पर आश्रित थी। यहाँ एक ही परिवार में पुत्र-पौत्र-प्रपौत्र, पिता-पितामह-प्रपितामह आदि सभी साम्मिलित रूप से सहभागी होते थे। परदादा-परदादी, दादा-दादी, माता-पिता, पति-पत्नी, भाई-बहनें, चाचा-चाची आदि सभी एक ही परिवार के सदस्य होकर परस्पर मिलकर स्नेह से जीवन व्यतीत करते थे। वे एक-दूसरे के सुख-दुःख में सहयोगी होते थे। परिवार का यह संगठन पितृमूलक था।

भारतीय परिवारों के संगठन में संस्कारों का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान था। प्राचीन भारतीय परिवारों में सामान्यतः 16 संस्कारों की प्रधानता थी। उनके अतिरिक्त कुछ और संस्कार भी थे। संस्कारों के बिना किसी भी व्यक्ति की, परिवार की और समाज की पहचान की कल्पना सम्भव नहीं थी। उनकी सामाजिक स्वीकृति संस्कारों के माध्यम से ही होती थी।

प्राचीन काल में भारतीय समाज के संगठन में समाज के विधायक मनीषियों और ऋषियों ने वर्ण-व्यवस्था और आश्रम-व्यवस्था को मूल आधार के रूप में स्वीकार किया था। वर्ण चार है- ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र। वैदिक युग में यह वर्ण-व्यवस्था गुणों और कर्मो के आधार पर स्वीकृत हुई थी। भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा-**"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः"**। मैंने चारों वर्णो का निर्माण गुणों और कर्मो के आधार पर किया है।

परन्तु उत्तरवर्ती काल में वर्णो का निर्धारण जन्म के अनुसार होने लगा। महाभारतकार ने वर्णो के निर्धारण के विषय पर बहुत विचार किया है। उसने इसको गुण-कर्मगत प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है। परन्तु उसके प्रयास सफल नहीं हो सके। आर्यो की यह वर्ण-व्यवस्था गुण कर्म के आधार को छोड़ कर जन्म को आधार मानकर जन्म के अनुसार जाति-व्यवस्था के रूप में परिणत हो गयी। इस तथ्य को प्राचीन आर्य शास्त्रों की परम्परायें और इतिहास स्पष्ट रूप से प्रमाणित करते हैं।

प्राचीन काल में भारतवर्ष में आर्य जातियों के साथ अनेक आर्येतर जातियाँ भी निवास करती थीं। इस तथ्य के अनेक प्रमाण मिलते हैं। समाज की संरचना में आर्यों की वर्ण-व्यवस्था गुण-कर्म के अनुसार थी। अतः इस स्पष्टरूप को आधार बनाकर उस समय के समाज के नेताओं ने तथा आर्य मनीषियों ने आर्येतर जातियों के व्यक्तियों को अपने गुण-कर्म के अनुसार आर्यों के समाज में समाविष्ट कर लिया।

यही कारण है कि मुसलमानों के आक्रमणों से पूर्व जितनी भी आक्रमणकारी जातियाँ पश्चिमोत्तर प्रदेशों से सिन्धु नदी को पार करके यहाँ आयीं, जैसे कि यवन-शक-हूण-कुषाण-खश आदि, उनका अब नाम भी उपलब्ध नहीं होता। उन सभी जातियों का विशाल भारतीय समाज में समायोजन हो गया। वह भारतीय समाज की ही अंग बन गई। सैकड़ों-हजारों वर्षो के अन्तराल में उनकी पृथक् रूप से पहचान अब सम्भव नहीं है।

परन्तु नये धार्मिक उन्माद से भरे हृदयों और मनवाले मुसलमान आक्रमणकारी भारत की जीर्ण और अति जीर्ण वर्ण-व्यवस्था के कारण तथा सामाजिक कुरीतियों के बहुत अधिक फैल जाने के कारण आर्यो को जीत कर इस देश के शासक हो गये। भारतीय मनीषियों और ऋषियों के अनेक प्रयासों के करने पर भी वे भारतीय समाज के अंग नहीं बन सके। भारतीयों के समाज में उनकी अलग पहचान और अलग स्थिति अब भी सर्वत्र परिलक्षित होती है। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष में शासन पर अधिकार करके उन्होंने बल का प्रयोग करके, भय दिखाकर तथा प्रलोभन देकर अनेक आर्यजनों को मुस्लिम धर्म को स्वीकार करने के लिये विवश कर दिया। परन्तु आर्यो के धर्म और संस्कृति के महनीय होने के कारण वे सम्पूर्ण भारतवर्ष को मुस्लिम धर्म में दीक्षित करने में समर्थ नहीं हो सके, जिस प्रकार कि उन्होंने ईराक-ईरान-अफगानिस्तान आदि देशों को सम्पूर्ण रूप से मुसलमान बना लिया।

समाज के संगठन में नारी की स्थिति विशिष्ट और महत्त्वूपर्ण है। परिवार के संगठन

की वह मूल इकाई है। घर, परिवार और समाज की वह मूल आधार है। प्राचीन भारतीय समाज में नारी के दो रूप दृष्टिगोचर होते है- प्रथम तो नारी परिवार की अंगभूत- पत्नी, माता, बहन, पुत्री आदि संबन्धों के रूप में दिखाई देती है और प्रतिष्ठा प्राप्त करती है। नारी का दूसरा रूप सामान्या गणिका आदि रूप में है। वह सर्वजन के लिये सुलभ है और दूसरों के मनोरंजन के लिये अपने आप को समर्पित करती है। प्राचीन संस्कृत शास्त्रों और अन्य काव्य आदि ग्रन्थों के अध्ययन से इस प्रकार की नारियों का विशद परिचय प्राप्त होता है। उस नारी का भी समाज में प्रतिष्ठित स्थान था।

प्राचीन भारतीय समाज में मनोविनोदों, उत्सवों और पर्वो का महत्त्वपूर्ण स्थान था। समाज की पहचान और हर्षोल्लास के वे महत्त्वपूर्ण संघटक थे। प्राचीन भारतीय जन विविध मनोविनोदों, उत्सवों आदि में मनोरंजन प्राप्त करते थे। वे विविध महत्त्वपूर्ण विशिष्ट, अवसरों, तिथियों में धार्मिक पर्वो में सम्मिलित होते थे। धार्मिक पर्वो के ये उत्सव सार्वजनिक रूप से संयोजित होते थे। अतः समाज के संगठन में उन उत्सवों और पर्वो का विशिष्ट योग था और ये अनेक धार्मिक विधि-विधानों में समाविष्ट हो गये थे।

प्राचीन भारतीय सामाजिक संस्थाओं को दो प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है, प्रथम प्रकार यह हो सकता है कि इसको वर्तमान ऐतिहासिक परम्पराओं के अन्तर्गत प्रस्तुत किया जाये। भारतीय इतिहास को विविध युगों में विभक्त किया गया है-जैसे कि प्रागैतिहासिक युग, पूर्ववैदिक युग, उत्तरवैदिक युग, सूत्र-स्मृति युग, बौद्ध युग, महाकाव्य युग, मौर्य युग, गुप्त युग, वर्धन युग आदि। इस प्रकार से विविध युगों के अनुसार संस्कृति और सभ्यता की संस्थाओं की स्थितियों का वर्णन किया जाये।

द्वितीय प्रकार यह है कि प्राचीन भारतीय सामाजिक संस्थाओं के समन्वित रूप को लेकर, विवेचना करके एक-एक सामाजिक संस्था का स्वतन्त्र रूप से वर्णन किया जाये। आवश्यकता के अनुरूप उनके ऐतिहासिक विकास को कहा जाये कि विभिन्न युगों में उनमें किस प्रकार परिवर्तन हुये। भारतीय सामाजिक संस्थाओं के रूप में अति प्राचीन काल से ही परिवर्तनों की हल्की झलक दिखाई देती है। जो परिवर्तन दिखाई भी देते है, उनकी गति को अति सूक्ष्मता से देखना न तो प्रभावशाली है और नहीं अति उपयोगी।

ऐतिहासिक युगों के क्रम से सामाजिक संस्थाओं की विवेचनाओं में प्रायः पुनरावृत्ति ही होगी। अतः प्राचीन सामाजिक संस्थाओं की विवेचनाओं और वर्णनों में दूसरे पथ का अवलम्बन करना ही अधिक उपयोगी है।

प्राचीन समाज के संगठन में प्राचीन सामाजिक संस्थाओं का अत्युज्ज्वल रूप भारतीयों के मनों में निहित है। भारतीय जनों के हृदयों में यह रूप अक्षय गौरव और आदर को निहित्त करता है। उस रूप की विशेषतायें वर्तमान भारतीय समाज में अनिवार्य रूप से विद्यमान दिखाई देती हैं। यह राष्ट्रिय गौरव और स्वाभिमान के उज्जवल रूप का द्योतक है। यह हमारे हृदयों में वर्तमानकालीन और भविष्यत्कालीन प्रेरणाओं को संयोजित करता है। अतः भारत राष्ट्र के गौरव की अभिवृद्धि के लिये, विकास के लिए और समुन्नति के लिये

प्राचीन भारत की सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन और इसके लिये प्राचीन शास्त्रों का अवलोकन परम आवश्यक है और निश्चय से अनिवार्य है।

डॉ० कृष्ण कुमार
मिश्रा बाग, हनुमान गढ़ी
कनखल (हरिद्वार)

प्राचीन भारत में स्त्रियों के सम्पत्ति के अधिकार

विश्व के अधिकांश सभ्य समाजों के विपरीत भारतीय समाज में स्त्री को न तो कभी सम्पत्ति माना गया और न ही पति को यह अधिकार दिया गया कि वह जब चाहे उसे बेच दे। यद्यपि साहित्य में इसके कतिपय उदाहरण अवश्य मिलते है, लेकिन वे अपवादस्वरूप ही हैं और ऐसे कृत्यों की भृर्त्सना की गई है। वास्तव में प्राचीन भारत में स्त्री की सामाजिक स्थिति अत्यन्त उन्नत थी। पति और पत्नी दोनों को परिवार की सम्पत्ति का संयुक्त स्वामी समझा जाता था। यहाँ तक कि विवाह के अवसर पर पति को यह प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि वह अपनी पत्नी के वित्तीय अधिकारों की रक्षा करेगा। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्राचीन हिन्दू समाज में स्त्रियों को एक सीमा तक साम्पत्तिक अधिकार प्राप्त थे। तैत्तिरीय-संहिता में पत्नी को पारिणाह्य अर्थात् घर की वस्तुओं की स्वामिनी स्वीकार किया गया है।[1] शतपथ ब्राह्मण में स्पष्टरूप से कहा गया है कि पत्नी पति के दाय की उत्तराधिकारिणी होती है।[2] दम्पती शब्द का प्रयोग यह स्पष्ट करता है कि पति पत्नी दोनों परिवार की सम्पत्ति के संयुक्त स्वामी होते थे। लेकिन कालान्तर में कर्मकाण्डो में पवित्रता का विचार बहुत अधिक बढ़ने से स्त्रियों को पहले तो याज्ञिक कार्यों से बहिष्कृत कर दिया गया और फिर साम्पत्तिक अधिकारों से।

परवर्ती शास्त्रकारों में सर्वप्रथम बौधायन ने स्त्री को दायाधिकार से वंचित किया। उनके अनुसार पत्नी का पति की सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं होता क्योंकि वह अबला है और इसलिये वह सम्पत्ति की रक्षा नहीं कर सकती।[3] मनु के अनुसार पति के जीवनकाल में पत्नी को किसी भी प्रकार की सम्पत्ति का अधिकार नहीं है। उसे पति से केवल भरण-पोषण प्राप्त करने का ही अधिकार है, जो कि उसकी पतिता एवं दूषिता होने अथवा नैतिक पतन की अवस्था में भी मान्य है।[4] मध्यकालीन टीकाकारों जैसे जीमूतवाहन, अपरार्क, देवण्णभटट् तथा मित्रमिश्र आदि ने भी पत्नी के साम्पत्तिक अधिकार का विरोध किया है।[5] लेकिन इसके बाबजूद शास्त्रकारों का एक ऐसा वर्ग था, जिसने स्पष्ट रूप से पत्नी के इस अधिकार का समर्थन किया है। धर्मशास्त्रकारों में सर्वप्रथम जैमिनी ने स्त्रियों के साम्पत्तिक अधिकार का समर्थन किया है।[6] आपस्तम्ब के अनुसार चूँकि पति और पत्नी

---

1 तैत्तिरीय संहिता,6.2.1.1

2 शतपथ ब्राह्मण,14.7.3.1-2. 14.5.4.1

3 बौधायन धर्मसूत्र, 2.2.53, 'न दायं, निरिन्द्रियाः ह्यदायाश्च स्त्रियो मता इति श्रुतिः'।

4 मनुस्मृति,11.176,177,188

5 जीमूतवाहन, दायभाग, पृ0 209 अपरार्क, 2.124, देवण्णभटट्, स्मृतिचन्द्रिका, पृ0 27, मित्रमिश्र, वीर-मित्रोदय-संस्कार-प्रकाश, पृ0529

6 हरिदत्त वेदालंकार, हिन्दू परिवार मीमांसा, पृ0447

दोनों बराबर है, इसलिए पति की अनुपस्थिति में उसे परिवार के आवश्यक कार्य के लिए धन खर्च करने का अधिकार है।[7] याज्ञवल्क्य के अनुसार यद्यपि पत्नी को विभाजन की मांग करने का कोई अधिकार नहीं है, लेकिन यदि पिता अपने जीवन काल में पुत्रों के बीच सम्पत्ति का बँटवारा करता है तो पत्नी को भी पुत्रों के समान सम्पत्ति का एक भाग प्राप्त करने का अधिकार है, किन्तु उसका यह अधिकार उस अवस्था में ही मान्य है, जबकि उसे पति या ससुर से स्त्रीधन नहीं मिला हो।[8] लेकिन यदि उसे स्त्रीधन मिला है तो सम्पत्ति का उतना भाग ही और दिया जाएगा, जिसे मिलाकर पुत्र के एक भाग के बराबर हो जाए।[9] अन्यत्र उसका कथन है कि जो पति अनुचित रूप से आज्ञाकारिणी, कुशल, वीरपुत्रों को जन्म देने वाली और मधुरभाषिणी पत्नी का त्याग करता है तो उसे पति की सम्पत्ति का एक तिहाई भाग मिलना चाहिए।[10] लेकिन अल्तेकर के अनुसार समाज ने शायद ही स्त्री के इस अधिकार को स्वीकार किया हो, क्योंकि अन्य धर्मशास्त्रकारों ने इसका कहीं भी समर्थन नहीं किया है।[11] विज्ञानेश्वर के अनुसार पत्नी पति की इच्छा से ही सम्पत्ति की अधिकारिणी होती है, अपनी इच्छा से नहीं[12] विश्वरूप के अनुसार पति-पत्नी में कोई विभाजन नहीं होता। पति यदि चाहे तो स्नेहवश अपनी पत्नी को एक भाग दे सकता है।[13] इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि पत्नी को किसी भी अवस्था में पति के जीवन काल में सम्पत्ति के विभाजन की मांग करने का अधिकार नहीं था, और न ही वह पति से पृथक् सम्पत्ति की स्वामिनी होती थी। वास्तव में परिवार की सम्पूर्ण सम्पत्ति का स्वामी पति ही माना जाता था। लेकिन इतना अधिकार उसे अवश्य था कि पति की अनुपस्थिति में वह परिवार के आवश्यक कार्यों हेतु धन खर्च कर सकती थी।

विधवा स्त्रियों को भी प्रारम्भ में अपने मृतपति की सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं था। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार विधवाओं का अपने पति की सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं होता।[14] आपस्तम्ब ने भी विधवा के इस अधिकार को स्वीकार नहीं किया है। उनके अनुसार पति की मृत्यु के बाद पुत्र के अभाव में उसका उत्तराधिकारी सपिण्ड, सपिण्ड के अभाव में आचार्य और आचार्य के अभाव में उसका अन्तेवासी सम्पत्ति का अधिकारी होता

---

7 आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 2.6.14.16-20,

8 याज्ञवल्क्यस्मृति, 2.115, 'यदि कुर्यात्समानंशान् पत्न्यः कार्याः समांशिका। न दत्तं स्त्रीधनं यासां भर्त्रा वा श्वशुरेण वा।। .

9 वही, 2.148,

10 वही,1. 76, (आज्ञासंपादिनीं दक्षां वीरसूं प्रियवादिनीम्। त्यजन्दाप्यस्तृयांशमद्रव्यो भरणं स्त्रियाः।।

11 ए0एस0 अल्तेकर, दि पोजीशन ऑफ विमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन, पृ0216

12 मिताक्षरा, याज्ञवल्क्यस्मृति पर टीका, 2.52, 'तस्माद् पत्युरिच्छया भार्याया अपि द्रव्यविभागो भवत्येव, न स्वेच्छया।'

13 विश्वरूप, याज्ञवल्क्यस्मृति टीका, 2.119

14 तैत्तिरीय संहिता,6.5.8. 2,

है।[15] बौधायन ने भी उत्तराधिकारियों की जो एक लम्बी सूची दी है। उसमें विधवा पत्नी का उत्तराधिकारियों के रूप में नामोल्लेख तक नहीं मिलता।[16] कौटिल्य के अनुसार जिस सम्पत्ति का कोई उत्तराधिकारी न हो, उसे राजा ले किन्तु स्त्री के जीवन निर्वाह और श्राद्धकार्यों के लिए उसे अवश्य धन दे।[17] इससे स्पष्ट होता है कि पुत्रहीन विधवा अपने पति की सम्पत्ति की स्वामिनी नहीं होती थी। मनु ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि पिता की सम्पत्ति के उत्तराधिकारी उसके पुत्र होते हैं, लेकिन यदि पुत्र न हो तो उसके उत्तराधिकारी पिता या भाई होते हैं। लेकिन यदि ये भी न हो तो सपिण्डों में सबसे निकट सम्बन्धी उस धन का भागी होता है, और इसके अभाव में क्रमशः सजातीय, आचार्य, अथवा शिष्य उस धन के भागीदार होते हैं।[18] इस प्रकार उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि दूसरी शताब्दी ई0पू0 तक विधवा स्त्री को पति की सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी नहीं माना जाता था। अल्तेकर के अनुसार विधवाओं के पुनर्विवाह तथा नियोग की प्रथा प्रचलित थी, जिसके कारण विधवाओं की संख्या कम थी। लेकिन ईसा की पहली सहस्राब्दी में इन दोनों प्रथाओं का लोप हो जाने के कारण समाज में विधवाओं की संख्या बढ़ने लगी। जिसके कारण सामाजिक दृष्टि से यह आवश्यक समझा गया कि परिवार में स्त्री को कुछ आर्थिक अधिकार प्रदान किए जायें। इसलिए परवर्ती शास्त्रकारों ने पुत्रहीन विधवा को पति की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी घोषित किया, जिससे उसकी दशा में कुछ सुधार हुआ।[19]

प्रो0 हरिदत्त वेदालंकार के अनुसार[20] यद्यपि पहली सदी से पूर्व के कुछ शास्त्रकारों जैसे- गौतम, विष्णु तथा शंख ने विधवा के साम्पत्तिक अधिकारों का समर्थन किया है। लेकिन उनके अर्थ तथा काल के सम्बन्ध में मतभेद होने के कारण इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। उनके अनुसार सम्भवतः याज्ञवल्क्य पहला स्मृतिकार था, जिसने स्पष्ट रूप से पुत्रहीन विधवा को मृत पति की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी घोषित किया। याज्ञवल्क्य के अनुसार पुत्रहीन व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् उसके अधिकारी क्रमशः पत्नी, कन्या, दौहित्र, माता-पिता, भाई-भतीजे, बन्धु तथा शिष्य होते हैं।[21] बृहस्पति ने भी विधवा के इस अधिकार का प्रबल समर्थन किया है। उनके अनुसार चूँकि पत्नी अपने पति के शरीर का आधा भाग मानी जाती है, इसलिए उसके होते हुए कोई दूसरा व्यक्ति कैसे

---

15 आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 2.14. 2-3, पुत्राभावे यः प्रत्यासन्नः सपिण्डः। तदभावे आचार्यः। आचार्याभावेऽन्तेवासी हृत्वा तदर्थेषु धर्मकृत्येषु वोपयोजयेत्।।

16 बौधायन धर्मसूत्र,1.5.113-114,

17 अर्थशास्त्र,3.5,

18 मनुस्मृति,9.185,87 न भ्रातरो न पितरः पुत्रा रिक्थहरा पितुः। पिता हरेदपुत्रस्य रिक्थं भ्रातर एव च। अनन्तरः सपिण्डाद्यस्तस्य धनं भवेत्। अत उर्ध्वं सकुल्यः स्यादाचार्यः शिष्य एव वा।।

19 ए0एस0 अल्तेकर, पूर्वोक्त, पृ0174,178,179,183,

20 प्रो0 हरिदत्त वेदालंकार, पूर्वोक्त, पृ0476-77,

21 याज्ञवल्क्यस्मृति,1.135-136,

उसके पति की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी हो सकता है। लेकिन साथ ही उन्होंने यह भी कहा है कि यदि वह अपने पति के प्रति ईमानदार है, तभी वह उसका उपभोग कर सकती है।[22] कात्यायन ने भी बृहस्पति के मत का समर्थन करते हुए पतिव्रता स्त्री को उसकी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी माना है, लेकिन साथ ही यह भी कहा है कि उसे इस सम्पत्ति के दान, विक्रय तथा गिरवी रखने का अधिकार नहीं है।[23] विज्ञानेश्वर के अनुसार यदि विधवा ब्रह्मचारिणी बनी रही तो वह बिना किसी रुकावट के अपने पति की सम्पत्ति की स्वामिनी होगी।[24] किन्तु जीमूतवाहन के अनुसार सिर्फ पुत्रहीन विधवा ही मृत पति की सम्पत्ति की अधिकारिणी होती है।[25] जबकि स्मृतिचन्द्रिका के अनुसार माता पुत्रों के साथ मृत पति की सम्पत्ति की अधिकारिणी होती है।[26]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रारम्भ में विधवाओं को सम्पत्ति में कोई अधिकार प्राप्त नहीं था। लेकिन कालान्तर में शास्त्रकारों ने उनके इस अधिकार का समर्थन किया। इस प्रकार यद्यपि वह जीवन पर्यन्त अपने पति की सम्पत्ति का उपभोग कर सकती थी किन्तु उसे इस सम्पत्ति के विनियोग का अधिकार नहीं था। वह केवल पति के उत्तराधिकारियों की सहमति से ही उसका दान तथा विक्रय कर सकती थी किन्तु धार्मिक कार्यों तथा पति को लाभ पहुँचाने वाले पुण्य कार्यों के लिए उसे व्यय कर सकती थी। उसकी मृत्यु के पश्चात् यह सम्पत्ति उसके पति के अन्य उत्तराधिकारियों को प्राप्त हो जाती थी।

पुत्रियों को भी प्रारम्भ में पैतृक सम्पत्ति में कोई अधिकार प्राप्त नहीं था। ऋग्वेद के अनुसार केवल वही कन्या पिता की सम्पत्ति की उत्तराधिकारी होती थी, जा अभ्रातृका होती थी।[27] ऐसी अवस्था में साधारणतया कन्या का पिता अपने दामाद से समझौता कर लेता था कि वह पहले पुत्री के पुत्र को उसे अपना वंश चलाने के लिए देगा, लेकिन यदि भ्रातृयुक्त कन्या अविवाहित रहती थी तो वह पिता की सम्पत्ति के कुछ भाग की अधिकारिणी मानी जाती थी।[28] परन्तु साधारणतया पुत्री को पिता की सम्पत्ति में कोई भाग नहीं मिलता था।[29] प्रो. हरिदत्त वेदालंकार के अनुसार पुत्री को पैतृक सम्पत्ति से वंचित रखने का प्रधान कारण पिण्डदान गें उसकी असमर्थता थी।[30]

---

22 बृहस्पति, 2.47-49
23 कात्यायन, याज्ञवल्क्यस्मृति, 2.126 पर मिताक्षरा द्वारा उद्धृत
24 मिताक्षरा, 2.135,
25 दायभाग,11.1, 2, 7
26 स्मृतिचन्द्रिका, 2.167
27 ऋग्वेद,1.124. 7, 'अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।'
28 वही, 2.17. 7,
29 ऋग्वेद,3.31. 2, 'न जामये तान्वो रिक्थमारैक्।'
30 प्रो. हरिदत्त वेदालंकार, पूर्वोक्त, पृ0420-21,

लेकिन कालान्तर में शास्त्रकारों के एक ऐसे वर्ग का उदय हुआ, जिसने भाई के न रहने पर भी बहिन के उत्तराधिकार को स्वीकार नहीं किया। बौधायान, वशिष्ठ तथा गौतम आदि शास्त्रकारों ने उत्तराधिकारीयों की गणना में पुत्री का नामोल्लेख तक नहीं किया है।[31] आपस्तम्ब के अनुसार उत्तराधिकारियों के अभाव में जब सपिण्ड, गुरु या शिष्य कोई न हो, तभी पुत्री सम्पत्ति की अधिकारिणी हो सकती है। लेकिन साथ ही उन्होंने यह भी कहा है कि पुत्र के न होने पर पिता को अपनी सारी सम्पत्ति धर्मकार्य में लगा देनी चाहिए, परन्तु पुत्री को नहीं देनी चाहिए।[32] परन्तु इसके विपरीत कुछ शास्त्रकारों ने उदारतापूर्वक पुत्री के इस अधिकार को स्वीकार किया है। महाभारत के अनुसार अभ्रातृका कन्या को पूरी सम्पत्ति नहीं तो कम से कम आधी अवश्य मिलनी चाहिए।[33] कौटिल्य ने भी पुत्री के प्रति सदाशयता दर्शित करते हुए अभ्रातृ कन्या को उत्तराधिकारी माना है, चाहे उसे कम ही हिस्सा क्यों न मिले।[34] याज्ञवल्क्य के अनुसार विधवा पत्नी तथा पुत्र के अभाव में पुत्री ही पिता की संपूर्ण सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी होती है।[35] इस सम्बन्ध में बृहस्पति का कथन है कि चूँकि पुत्र और पुत्री दोनों समान रूप से माता-पिता के शरीर के अंश को लेकर उत्पन्न होते है, अतः पुत्र के अभाव में उसे उत्तराधिकार से कैसे वंचित किया जा सकता है।[36] नारद ने भी इसका समर्थन किया है।[37] कात्यायन ने भी पुत्र के अभाव में पुत्री को पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी माना है।[38]

इस सन्दर्भ में यह भी विचारणीय है कि क्या भ्रातृयुक्त कन्याओं को सम्पत्ति में हिस्सा मिलता था? वैदिक साहित्य में इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता कि कन्या अपने भाई के साथ पैतृक सम्पत्ति की अधिकारी होती थी। लेकिन यदि वह अविवाहित रहती थी तो पिता की सम्पत्ति के कुछ भाग को प्राप्त करने की अधिकारिणी मानी जाती थी। परवर्ती शास्त्रकारों ने भी भाइयों के साथ बहिनों के उत्तराधिकार को स्वीकार नहीं किया है। लेकिन फिर भी कुछ शास्त्रकारों ने कन्या के इस अधिकार को स्वीकार किया है। यास्क ने ऋग्वेद के एक मन्त्र के आधार पर कन्याओं को भाइयों के साथ पैतृक सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी

---

31 बौधायन,1.5.113-14, वशिष्ठ,15. 7, गौतम, 28. 21,

32 आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 2.14. 2-4, पुत्राभावे यः प्रत्यासन्नः सपिण्डः। तद्भावे आचार्यः। आचार्याभावे अन्तेवासी हृत्वा धर्मकृत्येषु योजयेत। दुहिता वा।

33 महाभारत,13.88. 22, अभ्रातृका समग्राही चार्धार्हेत्यपरे विदुः।

34 अर्थशास्त्र,3.5, 'द्रव्यम् पुत्रस्य सौदर्या भ्रातरः सहजीविनो वा हरेयुः कन्याश्च।'

35 याज्ञवल्क्यस्मृति, 2.135,

36 बृहस्पतिस्मृति,15.35, 'पुत्राभावे तु दुहिता तुल्यसन्तानकारणात्।'

37 नारदस्मृति,13.50

38 कात्यायन, याज्ञवल्क्यस्मृति, 2.135-36, 'पत्नी पत्युर्धनहरी या स्याद्व्यभिचारिणी। तदभावे तु दुहिता यद्यनूढा भवेदितरा।।'

माना है।[39] इसी प्रकार विष्णु[40]तथा नारद[41] ने कन्या के हिस्से का समर्थन तो किया है किन्तु उसे अपने हिस्से को ले जाने की अनुमति नहीं दी है। नारद के अनुसार कन्या उतना ही हिस्सा प्राप्त करे, जितना उसके अविवाहित रहने तक व्यय होता है।[42] मध्यकालीन टीकाकारों में विज्ञानेश्वर ने स्पष्टरूप से पैतृक सम्पत्ति में कन्या को भाई के हिस्से का एक चौथाई देने का समर्थन किया है।[43] जीमूतवाहन ने भी विज्ञानेश्वर के इस मत का समर्थन किया है।[44] प्रो0 हरिदत्त वेदालंकार के अनुसार दुर्भाग्यवश शास्त्रकारों के समर्थन के बाबजूद समाज ने कन्या के इस अधिकार का समर्थन नहीं किया। उनके अनुसार इसका कारण शास्त्रकारों द्वारा भाइयों के इस कर्तव्य पर अत्यधिक बल देना था कि पिता की मृत्यु के पश्चात् वे अपनी बहिनों का विवाह करें। विवाह के कर्तव्य पर अत्यधिक बल देने का यह परिणाम हुआ कि कन्या का पैतृक सम्पत्ति में कोई स्वतन्त्र भाग नहीं रहा और यह समझा जाने लगा कि चूँकि कन्या को वैवाहिक धन और दहेज के रूप में पैतृक सम्पत्ति में पर्याप्त हिस्सा मिल जाता है, इसलिए उसे पृथक् रूप से धन देने की आवश्यकता नहीं है।[45]

निष्कर्ष रूप से प्रो0 हरिदत्त वेदालंकार का यह मत अत्यन्त उचित प्रतीत होता है कि धर्मशास्त्रकारों ने स्त्रियों के साम्पत्तिक अधिकारों की जानबूझ कर उपेक्षा नहीं की, अपितु इसके पीछे दो प्रमुख कारण थे-एक तत्कालीन परिस्थितियाँ और दूसरा स्त्रीधन की व्यवस्था। संयुक्त परिवार की व्यवस्था के कारण स्त्रियों के अधिकारों का प्रश्न नगण्य सा था। इस कारण शास्त्रकारों ने इसका उल्लेख करना आवश्यक नहीं समझा। दूसरा कारण स्त्रीधन की व्यवस्था थी। स्त्रियों को विवाह आदि अवसरों पर माता-पिता, भाई तथा पति आदि सम्बन्धियों से पर्याप्त मात्रा में धन (वस्त्राभूषण) मिल जाता था। जिस पर उसका पूर्ण स्वत्व होता था और वे इसका यथेच्छ विनियोग करने के लिए स्वतन्त्र होती थीं। अतः इस प्रकार की व्यवस्था होने के कारण शास्त्रकारों ने स्त्रियों को पुरुषों की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनाने की आवश्यकता नहीं समझी।[46]

हिन्दू धर्मशास्त्रकारों ने स्त्रीधन का भी विस्तार से वर्णन किया है, लेकिन उसके स्वरूप, उस पर स्त्री का आधिपत्य तथा उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर उनमें बहुत मतभेद हैं। वस्तुतः स्त्रीधन से तात्पर्य उस धन से है, जिस पर उसका पूर्ण आधिपत्य होता था और

---

39 ए0एस0 अल्तेकर, पूर्वोक्त, पृ0 286-87,

40 विष्णु,18.34, 'मातरः पुत्रभागानुसारेण भागहरिण्यः। अनूढा दुहितरश्च।'

41 नारद,13.13, 'ज्येष्ठायांशोऽधिको देयः कनिष्ठायापरः स्मृतः।' समांशभाजः शेषा स्युरप्रमत्ताः भगिनी तथा।।

42 वही,13. 27, 'या तस्य दुहिता तस्याः पित्र्योंऽशो भरणे मतः। आसंस्कारं भजेरंस्ताः परतो बिभृयात् पतिः।।'

43 मिताक्षरा, याज्ञवल्क्यस्मृति पर टीका, 2.135,

44 दायभाग,11.2.4,

45 हरिदत्त वेदालंकार, पूर्वोक्त, पृ0434,

46 वही, पृ0 265

जो उसे वस्त्र, आभूषण तथा धनराशि के रूप में विवाह के अवसर पर तथा अन्य विशिष्ट अवसरों पर भेंट स्वरूप माता-पिता, भाई तथा पति आदि सम्बन्धियों से प्राप्त होता था। वैदिक ग्रन्थों में भी विवाह के अवसर पर कन्या को प्राप्त होने वाले वहतु (दहेज) का उल्लेख मिलता है।[47] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि स्त्रीधन का प्रारम्भ वैदिक युग में विवाह के अवसर पर कन्या को दिये जाने वाले दहेज की वस्तुओं यथा वस्त्र, आभूषण तथा घर की अन्य सामग्री (परिणाह्य) से हुआ। परवर्ती शास्त्रकारों बौधायन तथा वशिष्ठ ने भी विवाह के अवसर पर भेंट स्वरूप प्राप्त आभूषणों एवं द्रव्यों (परिणाह्य) को स्त्रीधन कहा है।[48] आपस्तम्ब ने कुछ आचार्यों के मत को उद्धृत करते हुए कहा है कि वस्त्राभूषण तथा पिता, भाई आदि सम्बन्धियों से प्राप्त सम्पत्ति स्त्री की होती है।[49] परन्तु इन शास्त्रकारों में से किसी ने भी स्त्रीधन की स्पष्ट व्याख्या नहीं की है। यद्यपि गौतम ने सर्वप्रथम स्त्रीधन शब्द का प्रयोग किया है।[50] परन्तु उन्होंने भी इसके स्वरूप पर कोई प्रकाश नहीं डाला है। सर्वप्रथम कौटिल्य ने स्त्रीधन के स्वरूप का विस्तार से वर्णन किया है। उनके अनुसार स्त्रीधन दो प्रकार का होता है- एक वृत्ति और दूसरा आबाध्य। वृत्ति अधिक से अधिक दो सहस्त्रपण हो सकती है, जो स्त्री के जीवन निर्वाह के लिए उसे दी जाती है। जबकि विवाह के समय प्रदान किए जाने वाले आभूषण एवं जवाहरात आदि अन्य कीमती वस्तुएँ आबाध्य के अन्तर्गत आती हैं, जिसकी कोई निर्धारित सीमा नहीं होती है।[51] इससे स्पष्ट होता है कि वैदिक युग की अपेक्षा मौर्य काल में स्त्रीधन का क्षेत्र अधिक विस्तृत हो गया था।

स्मृतिकारों के समय में आकर तो इसके भेदों में और अधिक वृद्धि होने लगी। मनु ने छः प्रकार के स्त्रीधनों का उल्लेख करते हुए कहा है कि वैवाहिक अग्नि के सम्मुख पिता द्वारा दिया गया धन, विदाई के समय दिया गया धन, प्रेम सम्बन्धी किसी अवसर पर पति के द्वारा दिया गया धन, भाई, माता तथा पिता आदि के द्वारा विविध अवसरों पर दिया गया धन स्त्रीधन कहलाता है।[52] इसके अतिरिक्त मनु ने विवाह के पश्चात् मिली भेटों को भी स्त्रीधन की श्रेणी में गिना है।[53] नारद ने भी मनु की भाँति छः प्रकार के स्त्रीधन का उल्लेख किया है, किन्तु उन्होंने मनु के प्रीतिदत्त धन को भर्तृदाय की संज्ञा देकर केवल पति द्वारा दी गई भेटों तक ही सीमित कर दिया है।[54] विष्णु तथा याज्ञवल्क्य ने मनु द्वारा

---

47 ऋग्वेद,10.85.13,38, अथर्ववेद,14.1.13,14. 2.21, तैत्तिरीय संहिता,6. 2.1.1,

48 बौधायन, 2.2.49, 'मातुरलंकारं दुहितरः साम्प्रदायिकं लभ्येरन्न यद्वा। वशिष्ठ,17.46, मातुः परिणेयं स्त्रियो बिभतेरन्।'

49 आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 2.6.14.9, 'अलंङ्कारो भार्यायाः ज्ञातिधनं चेत्येके'।

50 गौतम धर्मसूत्र, 28. 25,

51 अर्थशास्त्र,3. 2, 'वृत्तिराबाध्यं वा स्त्रीधनम्। परिद्विसाहस्त्रास्थाप्या वृतिः। आधाध्यानियमः।'

52 मनुस्मृति,9.194, 'अध्यग्न्यध्यावाहनिक दत्तं च प्रति कर्मणि। भ्रातृमातृपितृप्राप्तं षड्विधं स्त्रीघनं स्मृतम्।।'

53 वही,9.145,

54 नारद, दायभाग, पृ048

उल्लिखित छः प्रकारों के अतिरिक्त स्त्रीधन में तीन अन्य प्रकारों की और वृद्धि कर दी है, ये हैं-1. आधिवेदनिक (पति द्वारा दूसरा विवाह करने पर पहली पत्नी को दिया गया धन), 2. बन्धुदत्त (मातृपक्ष और पितृपक्ष के बन्धुओं द्वारा दिया गया धन) तथा 3. शुल्क (धन देकर कन्या को विवाह में प्राप्त करना)।[55] स्मृतिकारों में कात्यायन ने स्त्रीधन का सबसे अधिक विस्तार से उल्लेख करते हुए लिखा है कि विवाह के समय अग्नि के समक्ष पिता द्वारा जो धन दिया जाता है उसे 'अध्याग्नि' कहते हैं। पितृगृह से पति गृह जाते समय जो धन स्त्री को पिता से प्राप्त होता है, उसे 'अध्यावहनिक' कहते हैं। ससुर या सास द्वारा प्रीतिपूर्वक जो धन दिया जाता है, उसे 'प्रीतिदत्त' कहा जाता है। जो बर्तनों, भारवाही पशुओं, दुधारू पशुओं, पतिकुल एवं पितृकुल के बन्धुओं से जो धन प्राप्त होता है, वह 'अन्वाधेय' कहलाता है। जो धन विवाहिता या अविवाहिता कन्या को अपने पति या पिता के घर में भाई और माता-पिता से मिलता है, वह 'सौदायिक' कहलाता है।[56] शनैः-शनै स्त्रीधन के घेरे में और भी सम्पत्तियाँ आने लगीं। विज्ञानेश्वर ने स्त्रीधन में उन सभी सम्पत्तियों को गिना है, जो किसी स्त्री को उत्तराधिकार (रिक्थ) में मिली हों, उसने स्वयं क्रय की हों, बँटवारे (संविभाग) में मिली हों, सौभाग्य से उसे प्राप्त हुई हों (परिग्रहाधिकृत) या दीर्घकाल तक उसके पास रहने के कारण (अधिगम) उसे मिली हो।[57] इस प्रकार इसमें सभी प्रकार से प्राप्त स्त्री की सम्पत्ति शामिल हो गई। किन्तु जीमूतवाहन विज्ञानेश्वर के इस मत से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार वे केवल वही सम्पत्ति स्त्रीधन है, जिसका कोई स्त्री स्वेच्छा से दान, विक्रय एवं उपभोग पति की अनुमति के बिना कर सकती है। उनके अनुसार सम्बन्धियों द्वारा प्रदत्त भेंट, अचल सम्पत्ति के अतिरिक्त पति द्वारा प्रदत्त उपहार, विवाह अग्नि के सम्मुख तथा पतिगृह जाते समय प्राप्त भेटें ही स्त्रीधन के अन्तर्गत आती हैं। लेकिन वह धन जो उसे सम्बन्धियों से भिन्न व्यक्तियों से भेंट में, शिल्प आदि कर्मों से तथा उत्तराधिकार अथवा विभाजन में स्थावर सम्पत्ति के रूप में प्राप्त होता है, स्त्रीधन नहीं कहलाता।[58] अल्तेकर के अनुसार स्त्रियों को स्थावर सम्पत्ति के यथेच्छ विनियोग से मुक्त रखने का प्रधान कारण परिवार की संयुक्त सम्पत्ति को अखण्ड बनाए रखने का प्रयास था।[59]

काणे के अनुसार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि स्त्रीधन एक ऐसा धन था, जिसके अन्तर्गत छः प्रकार की सम्पत्ति की गणना होती थी। लेकिन आगे चलकर उसमें सभी प्रकार की (चल या अचल) सम्पत्ति सम्मिलित हो गयी, जिसे कोई स्त्री कुमारी अवस्था में, विवाहित होते समय, विवाह के उपरान्त माता-पिता तथा

---

55 विष्णु17.18, याज्ञवल्क्य स्मृति, 2.143-44,

56 कात्यायन, मिताक्षरा, 2.143, स्मृतिचन्द्रिका 2.280-81, दायभाग, पृ093

57 मिताक्षरा, याज्ञवल्क्यस्मृति पर टीका, 2.143, 'आद्यशब्देन रिक्थक्रयसंविभाग-परिग्रहाधिगमप्राप्तमेतत्स्त्रीधनं मन्वादिभिरुक्तम्'

58 दायभाग, पृ0 76-77

59 ए0एस0 अल्तेकर पूर्वोक्त पृ0 268

अन्य सम्बन्धियों से और पति या उसके कुल से (पति द्वारा प्रदत्त अचल सम्पत्ति को छोड़कर) प्राप्त करती थी। लेकिन वह धन जिसे विवाहोपरान्त स्वयं अपने परिश्रम से अर्जित करती थी या सम्बन्धियों से भिन्न व्यक्तियों से प्राप्त करती थी, तथा उत्तराधिकार में प्राप्त करती थी, स्त्रीधन नहीं कहलाता था।[60]

स्वत्व की दृष्टि से स्त्रीधन दो प्रकार का होता था, एक सौदायिक- वह सम्पत्ति जिस पर स्त्री का पूर्ण स्वत्व होता था और दूसरा असौदायिक-वह सम्पत्ति, जिसका उपभोग तो स्त्री कर सकती थी, परन्तु जिस पर नियन्त्रण उसके पति का होता था। काणे के अनुसार इस विषय में प्रामाणिक जानकारी हमें कात्यायन एवं नारद के कथनों से प्राप्त होती है। कात्यायन के अनुसार विवाह के समय तथा उसके बाद माता-पिता, पति तथा अन्य सम्बन्धियों से प्राप्त धन सौदायिक कहलाता था, जिस पर स्त्री का पूर्ण स्वत्व होता था और वह अपनी इच्छानुसार इस सम्पत्ति का दान, विक्रय तथा उपभोग कर सकती थी।[61] लेकिन कुछ विशेष परिस्थितियों में शास्त्रकारों ने पति को सौदायिक स्त्रीधन के उपभोग की अनुमति दी है। याज्ञवल्क्य के अनुसार यदि पति, दुर्भिक्ष, धर्मकार्य, व्याधि तथा जेल जाने की स्थिति में इस धन का उपभोग करता है तो उसे यह धन लौटाना पड़ता था।[62] कात्यायन के अनुसार पति, पुत्र, पिता और भाई स्त्रीधन के ग्रहण के अधिकारी नहीं है, लेकिन यदि इनमें से कोई एक भी बलपूर्वक स्त्रीधन का उपयोग करे तो उसे यह धन ब्याज सहित वापस करना चाहिए। लेकिन यदि वह अनुमति लेकर प्रीतिपूर्वक इस धन का उपयोग करता है तो धनी होने पर उसे यह मूलराशि वापस करनी चाहिए।[63] अपरार्क के अनुसार पत्नी के जीवित रहते हुए उसके पति, पुत्र, देवर तथा भाई आदि का स्त्रीधन पर कोई अधिकार नहीं था और जो स्त्रीधन का अपहरण करते है, उन्हें दण्ड दिया जाना चाहिए।[64] स्मृतिचन्द्रिका में उद्धृत देवल के अनुसार स्त्रीधन का उपयोग स्त्री स्वयं करे। पति केवल आपत्ति के समय ही उसका उपभोग कर सकता है, लेकिन यदि वह बिना कारण इसका उपयोग करता है तो उसे वह धन ब्याज सहित वापस करना चाहिए।[65] इस प्रकार उपर्युक्त विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि केवल आपत्ति काल या दु:खद परिस्थितियों में ही पति को स्त्रीधन के उपयोग का अधिकार था। शिल्पों से प्राप्त धन तथा माता, पिता एवं पति आदि सम्बन्धियों से भिन्न व्यक्तियों द्वारा प्राप्त धन असौदायिक कहलाता था। दायभाग के अनुसार

---

60 पी0बी0 काणे, पूर्वोक्त, भाग-2, पृ0940

61 स्मृतिचन्द्रिका, 2.202, 282,

62 याज्ञवल्क्यस्मृति, 2.147, 'दुर्भिक्षे धर्मकार्ये च व्याधौ संप्रतिरोधके। गृहीतं स्त्रीधनं भर्ता न स्त्रियै दातुमर्हति।।'

63 दायभाग, पृ058,

64 अपरार्क, याज्ञवल्क्यस्मृति 2.46 पर उद्धृत, 'जीवन्त्याः पतिपुत्रास्तु . देवराः पितृबान्धवाः।' अनीशाः स्त्रीधनस्योक्ता दण्ड्यास्त्वपहन्ति ये।।

65 स्मृतिचन्द्रिका, व्यवहारकाण्ड, पृ0657,

इस सम्पत्ति पर स्त्री का स्वामित्व नहीं होता था, अपितु इस पर उसके पति का अधिकार होता था, और वह इस सम्पत्ति का उपयोग बिना आपत्ति काल के भी कर सकता था। लेकिन पति के अतिरिक्त इस धन पर किसी अन्य का अधिकार नहीं होता था। यदि पत्नी पति से पहले मर जाती थी तो इस सम्पत्ति का उत्तराधिकारी उसका पति होता था। लेकिन यदि पति पहले मर जाता था तो इस पर उसका पूर्ण स्वामित्व होता था और ऐसी स्थिति में उसकी मृत्यु के बाद उसके पति के नहीं, अपितु उसके उत्तराधिकारी होते थे।[66] लेकिन कुछ विशेष परिस्थितियों में शास्त्रकारों ने स्त्री को भी इस धन के अधिकार से वंचित किया है। कौटिल्य के अनुसार यदि स्त्री राजविरोधी बातें कहती हो, शराब एवं जुए आदि का व्यसन करती हो, तथा व्यभिचारिणी हो तो उसका स्त्रीधन पर स्वत्व समाप्त हो जाता है।[67] कात्यायन के अनुसार यदि स्त्री अपचार क्रिया युक्त, निर्लज्जा, अर्थनाशिनी तथा व्यभिचारिणी हो तो, उसका स्त्रीधन पर कोई अधिकार नहीं होता।[68]

यद्यपि स्त्रीधन के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में भी शास्त्रकारों में मतभेद है, लेकिन फिर भी प्राय: अधिकांश शास्त्रकार इस विषय पर एकमत हैं कि स्त्रीधन के उत्तराधिकार में पुत्रियों को पुत्रों की अपेक्षा प्राथमिकता और वरीयता मिलनी चाहिए। गौतम के अनुसार स्त्रियों की ममता साधारणत: पुत्रियों के प्रति होती है, इसलिए स्त्रीधन की उत्तराधिकारिणी उसकी पुत्रियाँ ही होती हैं। पुत्रियों में भी सर्वप्रथम अविवाहित पुत्रियाँ ही उसकी अधिकारिणी होती हैं, किन्तु उनके अभाव में विवाहित पुत्रियों को यह धन मिलता है।[69] बौधायन ने भी इसका समर्थन किया है।[70] याज्ञवल्क्य के अनुसार माता के धन पर सबसे पहले पुत्री का अधिकार होता है, लेकिन उसके अभाव में उसके अधिकारी पुत्र होते हैं।[71] पुन: उनका कथन है कि यदि स्त्री नि:सन्तान मर जाए और वह विवाह मान्यता प्राप्त विवाह (ब्राह्म, दैव, आर्ष तथा प्राजापत्य) की कोटि का हो तो उसके धन पर पति का अधिकार होता है, लेकिन शेष विवाहों में यह धन उसके माता-पिता को मिल जाता है। किन्तु यदि स्त्री की केवल पुत्रियाँ ही हों तो सभी प्रकार के विवाहों में यह विवाहों में पहला अधिकार पुत्री का होता है।[72] विष्णु ने भी इसका समर्थन किया है,[73] नारद ने भी पुत्रियों को स्त्रीधन की अधिकारिणी माना है। उनके अनुसार माता के मरने पर पुत्रियाँ और

---

66 दायभाग, पृ० 76,

67 अर्थशास्त्र3. 2, 'राजद्विष्टातिचाराभ्यामात्मापक्रमणेन च। स्त्रीधनानीतशुल्कानामस्वाम्य जायते स्त्रिया:।।'

68 कात्यायन, मनुस्मृति, 2.28 पर मेघातिथि द्वारा उद्धृत, 'उपचारक्रियायुक्ता निर्लज्जा चार्थ- नाशिका व्यभिचाररता या च स्त्रीधनं सा न सार्हति।।'

69 गौतम धर्मसूत्र, 28. 25,

70 बौधायन धर्मसूत्र, 28. 25,

71 याज्ञवल्क्यस्मृति, 2.117,

72 वही, 2.145, 'अयुजस्त्रीधनं भर्तुर्ब्रह्मादिषु चतुर्ष्वपि। दुहितृणां प्रसूता चेच्छेषेषु पितृगामि तत्।।'

73 विष्णु,17.19-21,

पुत्रियों के अभाव में पुत्र आपस में स्त्रीधन को बाँट ले।[74] बृहस्पति के अनुसार अविवाहित कन्याओं को वरियता मिलनी चाहिए तथा विवाहित कन्याओं को स्नेह रूप थोड़ा-थोडा धन मिलना चाहिए।[75] कात्यायन के अनुसार स्त्रीधन पर सबसे पहला अधिकार अविवाहित पुत्रियों का होता है। इनके नहीं होने पर पुत्र इस धन के अधिकारी होते हैं।[76] इस संदर्भ में विज्ञानेश्वर का कथन है कि चूँकि पिता की सम्पत्ति के उत्तराधिकारी उसके पुत्र होते हैं, और पुत्रियों को इसमें कोई भाग नहीं मिलता, इसलिए माता की सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी उसकी पुत्रियाँ होती है। इसके समर्थन में उनका मत है कि पुत्रों में पिता के अंश की प्रधानता रहती है, और पुत्रियों में माता के अंश की। अत एव पुत्रों को पिता का और पुत्रियों को माता का धन मिलना चाहिए।[77] लेकिन इसके साथ-साथ शास्त्रकारों का एक वर्ग ऐसा भी था, जिसने पुत्रियों के साथ-साथ पुत्रों को भी इस धन पर अधिकार स्वीकार किया है। प्रो0 वेदालंकार के अनुसार इसका कारण सम्भवतः यह था कि प्रारम्भ में इस धन के अन्तर्गत केवल विवाह के अवसर पर प्राप्त होने वाले वस्त्राभूषण ही आते थे, जो कि केवल स्त्रियों के उपयोग की ही वस्तु थे। अत एव इन वस्तुओं के उपयोग के लिए यह आवश्यक समझा गया है कि धन कन्याओं को दे दिया जाए। लेकिन कालान्तर में जब स्त्रीधन के प्रकारों में वृद्धि हो गई तो यह प्रवृत्ति बल पकड़ने लगी कि इस धन पर पुत्री के साथ-साथ पुत्र के अधिकार को भी स्वीकार किया जाए, क्योंकि यदि यह सम्पत्ति स्त्री की उत्तराधिकारिणी पुत्रियों में बाँट दी जाती तो पैतृक सम्पत्ति का एक बहुत बड़ा भाग दूसरे कुलों में चला जाता, जो परिवार के पुरुषों को कदापि मान्य नहीं होता। अतः स्त्रीधन में पुत्रियों के साथ-साथ पुत्रों को भी समान उत्तराधिकारी माना जाने लगा।[78] सर्वप्रथम कौटिल्य ने पुत्रियों के साथ-साथ स्त्रीधन पर पुत्रों के अधिकार को स्वीकार किया।

उनके अनुसार यदि पति के जीवित रहते हुए कोई स्त्री मर जाए तो उस धन को पुत्र और पुत्रियाँ आपस में बाँट लें, लेकिन यदि उसके पुत्र न हो तो वे लड़कियाँ ही उस धन की अधिकारिणी होती हैं।[79] मनु ने पुत्रों के अधिकार का समर्थन करते हुए लिखा है कि माता के धन को भाई-बहिन मिलकर आपस में बाँट लें।[80] देवल के अनुसार स्त्रीधन

---

74 नारदस्मृति,16. 2-9,

75 बृहस्पति, दायभाग, पृ0 79, 'स्त्रीधनं स्यादपत्यानां दुहिता च तदंशिनी। अप्रमता चेत्समूढा तु लभते मानमात्रकम्।।'

76 स्मृतिचन्द्रिका, 2.285-87 पर उद्धृत

77 मिताक्षरा, याज्ञवल्क्यस्मृति पर टीका, 2.117 पुमान्पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः इति वचनात् स्त्र्यवयवानां दुहितृषु बाहुल्यात् स्त्रीधनं दुहितृगामि। पितृधनं पुत्रगामि पित्रवयनां पुत्रेषु बाहुल्यादिति।।

78 हरिदत्त वेदालंकार, पूर्वोक्त, पृ0467,

79 अर्थशास्त्र,3. 2, 'जीवति भर्तरि भृतायाः पुत्रा दुहितरश्च स्त्रीधनं विभजेरन् अपुत्राया दुहितरः।'

80 मनुस्मृति,9.192, 'जनन्यां संस्थितायां तु समं सर्वे सहोदराः। भजेरन् मातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनाभयः।।'

पर पुत्र और पुत्री दोनों का बराबर अधिकार होता है।[81] जीमूतवाहन ने भी स्त्रीधन पर पुत्रियों के साथ पुत्रों के अधिकार का प्रबल समर्थन किया है।[82]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि स्त्रीधन के रूप में स्त्री को ऐसी सम्पत्ति प्राप्त हो जाती थी, जिस पर उसका पूर्ण स्वत्व होता था। वह उसे अपनी इच्छानुसार खर्च कर सकती थी, बन्धक रख सकती थी और बेच भी सकती थी। अतः उसे अपने जीवन निर्वाह के लिए पूर्णतया अपने पति, पिता पुत्र और भाई पर निर्भर नहीं रहना पड़ता था। कुल मिलाकर स्त्रीधन का इतिहास और विकास मातृजाति के प्रति भारतीय संस्कृति की उदारता का उज्ज्वल प्रमाण है।

डॉ० देवेन्द्र कुमार गुप्ता
बरिष्ठ प्रवक्ता, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

---

81 दायभाग, पृ0 79, 'सामान्यं पुत्रकन्यानां मृतायां स्त्रीधनं स्त्रियाम्।'
82 वही, पृ0 79,

स्वाधीनता प्राप्ति में महर्षि दयानन्द का योगदान

19वीं सदी भारतीय इतिहास में विशेष उल्लेखनीय हैं, क्योंकि इस सदी में दासता व अज्ञानता से त्रस्त भारत में नवजागरण का सन्देश लेकर भारत माता के रत्नगर्भ से एक महापुरुषश्रृंखला प्रसूत हुई, जिसमें महर्षि दयानन्द का स्थान सर्वोपरि है।

महर्षि दयानन्द का नाम आते ही उनके समकालीन भारत की दशा स्वत: जीवन्त हो उठती है। सदियों से पराधीनता के पाश में बद्ध भारतीय जनमानस अज्ञानता के तमस् को भेदकर विश्व के बदलते परिदृश्य के साथ खुले वातावरण में सांस लेने को आतुर था, लेकिन वैदेशिक क्रूर शासन, रूढ़िवाद एवं संकीर्णता तथा कुरीतियों से ग्रस्त भारतीय मानस पटल पर महर्षि दयानन्द का अवतरण एक महान् घटना है जो वेदोद्धारक, समाज सुधारक व स्वराज्य के प्रतीक के रूप में हमारे सामने आते हैं।

महर्षि दयानन्द का 1856 से 1860 ई0 तक का जीवनकाल कतिपय विद्वानों में विवाद का विषय रहा है। विशेष रूप से 1857 ई0 के प्रथम स्वन्त्रता संग्राम में उनकी सक्रिय भागीदारी को लेकर। मुख्यत: यह प्रबल सम्भावना व्यक्त की जाती है कि प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम में महर्षि दयानन्द की पूर्ण भागीदारी रही है। साहित्य लेखन तथा वक्तव्य में उनके द्वारा स्वभाषा, स्वधर्म व स्वदेश की भावना पूर्ण निष्ठा व विश्वास के साथ जोर देकर क्रान्तिपूर्ण स्वर में मुखरित हुई है। अत: इस वास्तविकता को कदापि नहीं नकारा जा सकता है कि स्वामी दयानन्द स्वातन्त्र्य क्रान्ति के न मात्र पूर्ण पक्षधर थे, बल्कि उसके पुरोधाओं में से एक थे। वीर विनायक दामोदर सावरकर की पुस्तक 1857 का स्वतन्त्रता संग्राम के अनुसार इस क्रान्ति को फैलाने में सभी मतों से साधुओं का सक्रिय योगदान रहा है, जो स्वामी जी के भागीदारी के प्रमाणों को पुष्ट करता है। स्वामी सच्चिदानन्द योगी द्वारा लिखित-स्वामी जी के जीवन चरित्र में 1857 की क्रान्ति में उनके योगदान को पूर्ण तार्किकता के साथ प्रस्तुत किया गया है। बाल गंगाधर तिलक महर्षि दयानन्द को स्वराज्य का प्रथम सन्देश वाहक स्वीकार करते हैं। डॉ0 सत्यकेतु विद्यालंकार आर्य समाज का इतिहास इस ग्रन्थ के चौथे खण्ड में लिखते हैं-**"हम इस बात की प्रबल सम्भावना पर विचार कर चुके हैं कि १८५७ के विद्रोह के आयोजकों एवं पुरोधाओं में महर्षि दयानन्द एवं उनके गुरु विरजानन्द का प्रमुख स्थान था।"** डॉ0 सत्यकेतु पुन: आगे लिखते हैं **'महर्षि दयानन्द सरस्वती उन व्यक्तियों में से थे जो १८५७ के स्वतन्त्रता संग्राम की विफलता से निराश नहीं हुए और विफलता के कारणों पर विचार कर उन्हें दूर करने एवं अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रयत्न जारी रखने वालों में थे।'**

महर्षि दयानन्द समकालीन भारत की स्थिति से सर्वथा दु:खी थे। अस्मितामयी आर्य भूमि पर वैदेशिक दमनकारी शासन से उनका हृदय विदीर्ण था। स्वामी जी सत्यार्थ-प्रकाश के आठवें समुल्लास में भारतीयों के गौरवशाली अतीत की ओर संकेत करते हुए लिखते

हैं-'जो आर्यावर्त देश से भिन्न देश वह दस्यु तथा म्लेच्छ देश कहते हैं। आगामी पंक्तियों में स्वामी जी की स्वराज्य भावना उग्रता के साथ प्रस्फुटित हुई है'-**अब अभाग्योदय से आर्यों के आलस्य प्रमाद व परस्पर विरोध से अन्य देशों में राज्य करने की तो क्या कहनी किन्तु अर्यावर्त देश में भी आर्यों का अखण्ड, स्वतन्त्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है। जो कुछ है वह विदेशियों से पदाक्रान्त हो रहा है।** 'ग्यारहवें समुल्लास में स्वामी जी पुन: गौरवशाली अतीत से परिचित कराते हैं-**"यह निश्चय है कि जितनी विद्या और मत भूगोल में फैलें हैं, वह सब आर्यावर्त देश ही से प्रचारित हुए हैं........ .यह आर्यावर्त ऐसा देश है जिसके सदृश दुनियाँ में दूसरा देश नहीं है।.......... सृष्टि से लेकर पांच सहस्त्र का पूर्व तक आर्यों का सार्वभौम अर्थात् भूगोल में सर्वोपरि राज्य था। अन्य देशों में मांडलिक अर्थात् छोटे-छोटे राज्य थे।"**

इसी सन्दर्भ में स्वामी जी संस्कृत-वाक्य-प्रबोध के राज्य प्रकरण में पशु पक्षियों का उदारहण देकर स्वतन्त्रता की विचार-क्रान्ति का प्रसार करते हैं-**"यह तो पशु-पक्षियों का स्वभाव है कि जब उनका कोई घर आदि छीनने का यत्न करता है तब वे भी यथाशक्ति युद्ध करते हैं।"**

जनवरी सन् 1873 ई0 में महर्षि दयानन्द का लार्ड नार्थब्रुक के साथ एक भेंटवार्ता का आयोजन किया गया। वार्ता में स्वामी जी से निवेदन किया कि वे भारत में ब्रिटिश शासन का समर्थन व सहयोग करें। प्रत्युत्तर में स्वामी जी ने नार्थब्रुक को ललकारते हुए कहा-**"मेरे देशवाशियों को अबोध राजनैतिक उन्नति तथा संसार के अन्य राज्यों के समान दर्जा पाने के लिए शीघ्र स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए।** नार्थब्रुक ने यहीं वार्ता समाप्त कर दी। भारतीय कार्यालय लन्दन को पूर्ण विवरण देते हए लिखा कि इस विद्रोही फकीर पर दृष्टि रखने की आवश्यकता है।"

महर्षि दयानन्द देशी रियासतों की आपसी कलह निरंकुशता तथा राजाओं की भोग विलासी प्रवृत्ति से अत्यन्त रुष्ट थे। सत्यार्थ-प्रकाश में स्वामी जी अन्तर्कलह एवं अंग्रेजों की फूट डालों शासन करो नीति पर कुठाराघात करते हुए लिखते हैं-**"जब भाई-भाई आपस में लड़ते हैं तभी तीसरा विदेशी आकर पंच बन बैठता है।"** स्वराज्य के उत्कट अभिलाषी, स्वाभिमानी महर्षि दयानन्द ने रियासतों में जा-जाकर राजाओं के विस्तृत स्वाभिमान को जगाया और उन्हें कर्तव्य से परिचित कराया। स्वामी जी ने जहाँ कर्णसिंह जैसे अभिमानी राजा को सबक सिखाया वहीं वेश्यागामी जोधपुर नेरश को ललकारते हुए कहा-**"महाराज राजा सिंह के सदृश होता है, वह दर-दर भटकने वाली कुतिया का सेवन कदापि नहीं करता।"**

महर्षि दयानन्द स्वदेशी, स्वभाषा एवं स्वराज्य के सर्वप्रथम प्रचारक तथा समर्थक थे। स्वदेशी शब्द का प्रयोग वह बड़े व्यापक रूप में करते थे। इसमें वे अपनी भाषा और संस्कृति को समाहित करते हुए अपनाने पर बल देते थे। 1905-06 में स्वदेशी आन्दोलन प्रारम्भ होने से तीस वर्ष पूर्व उन्होंने स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार पर बल दिया। स्वराज्य

की महिमा को उन्होनें उस समय प्रबल शब्दों में स्पष्ट किया जब कांग्रेस के नेता ब्रिटिश शासन को ईश्वरीय वरदान एवं दैवीय व्यवस्था समझ रहे थे। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ डॉ0 सत्यकेतु विद्यालंकार लिखते हैं-**"महर्षि दयाननद नमक कानून का विरोध करने वाले सम्भवतः पहले नेता थे। उन्होंने १८५७ ई० में प्रकाशित अपने सत्यार्थ-प्रकाश में नमक कर की कड़ी आलोचना की है।** इसी सन्दर्भ में विख्यात इतिहासकार डॉ0 रमेश चन्द्र मजूमदार भी स्वाधीनता आन्दोलन में महर्षि दयानन्द की भूमिका के बारे में लिखते हैं-**"स्वामी दयानन्द का एक प्रथम उद्देश्य भारत की राजनैतिक स्वतन्त्रता था। वस्तुतः वह पहले व्यक्ति थे जिन्होंने स्वराज्य शब्द का प्रयोग किया तथा वे पहले व्यक्ति थे जिन्होनें जनता से इस बात का आग्रह किया कि वे केवल भारत में बनी स्वदेशी वस्तुओं का इस्तेमाल करें।"**

एक दिन ठाकुर ऊधवसिंह छावणी निवासी अपने पिता ठाकुर भोपाल सिंह के साथ स्वामी जी के दर्शन करने अलीगढ़ आये। उस दिन ऊधव के वस्त्र विदेशी कपड़े के बने थे। स्वामी जी ने बड़े विनम्र शब्दों में स्वदेशी की महत्ता से अवगत कराते हुए कहा-**''देखों ऊधव तुम्हारे पिता कैसे देशी, मोटे कपड़े पहनते हैं, बिरादरी में उनका कितना सम्मान है। ऊधव अपने देश की वस्तुओं को अपनाने में ही महानता है।**

हिन्दी के प्रचार व स्वरूप को राष्ट्रियता का दर्जा मिलने का श्रेय भी महर्षि दयानन्द को है। राष्ट्र भाषा हिन्दी के प्रति स्वामी जी की मूल भावना राष्ट्रिय एकता स्थापित करने व स्वराज्य प्राप्ति की थी। स्वमी जी गुजराती के भी कुशल ज्ञाता थे यह उनकी मातृभाषा भी थी। लेकिन अपने जीवन में उन्होंने जितने भी ग्रन्थ लिखे सब आर्य भाषा हिन्दी में ही गुजराती भाषा में एक भी नहीं। स्वामी जी की जीवनी के एक आस्ट्रेलियाई लेखक जाईन्स ने ठीक ही लिखा है-**दयानन्द बनारस, लाहौर, बम्बई जहाँ भी गये उन्होंने हिन्दी का ही व्यवहार किया।**

हरिद्वार में एक दिन अनेक लोगों ने स्वामी जी से अपने ग्रन्थों का गुजराती, पंजाबी, उर्दू आदि भाषाओं में अनुवाद करने को कहा तो उन्होंने उत्तर दिया-**"दयानन्द के नेत्र तो वह दिन देखना चाहते हैं जब कश्मीर से कन्याकुमारी तक, अटक से कटक तक नागरी अक्षरों का व्यवहार होगा। मैंने आर्यावर्त भर में ऐक्य सम्पादन के उद्देश्य से सकल ग्रन्थ आर्यभाषा में लिखे व प्रकाशित किये हैं।"** महर्षि दयानन्द का यह दृढ़ विश्वास था कि हिन्दी सम्पूर्ण भारत को एकसूत्र में पिरो सकती है।

महर्षि दयानन्द अनेकों स्वतन्त्रता सेनानियों के प्रेरणास्रोत थे। वास्तव में महर्षि दयानन्द के विचारों एवं सिद्धान्तों ने काफी हद तक महात्मा गांधी, सुभाषचन्द्र, सरदार पटेल, लोकमान्य तिलक, लाला लाजपत राय आदि स्वाधीनता आन्दोलन के कर्णधारों को प्रभावित किया। कांग्रेस के अधिवेशनों में 50 प्रतिशत से भी ज्यादा आर्यसमाजी होते थे।

समाज सुधार, धर्मोद्वार, स्वराज्य एवं नवचेतना के प्रतीक महर्षि दयानन्द के विचारों एवं सिद्धान्तों ने न केवल भारतवासियों को ही अपितु विदेशी विचारकों एवं विद्वानों को भी

पूर्ण प्रभावित किया। नोबेल पुरस्कार विजेता- रोमां रोल्या 'द लाइफ आर्फ रामकृष्ण में लिखते हैं- **'स्वामी दयानन्द भारतीय जनता के उद्धारक एवं राष्ट्रिय चेतना आन्दोलन के शक्ति-पुञ्ज थे।**

यूरोप में जो कार्य बेकन, दस्कार्ते, स्पिनोजा तथा वाल्तेयर सदृश विचारकों ने किया उससे कहीं ज्यादा भारत में महर्षि दयानन्द द्वारा किया गया हैं।

यतीन्द्र कुमार विद्यालंकार
सघनक्षेत्र, निकट-बिजलीघर
मंडी घनौरा 244231
(ज्योतिबाफूले नगर उ.प्र.)

वैदिक राष्ट्रवाद

भारतीयता तथा राष्ट्रियता के महान् शत्रु 'प्रान्तवाद' का समाधान कुछ दिन पूर्व असम की यात्रा के उपरान्त अपने एक लेख में मैंने यह कहा था कि यदि समय रहते ही हम न चेते तो हमें पछताना पड़ेगा। अत्यन्त दुःख तथा लज्जा का विषय है कि जो कुछ असम में हिन्दी भाषियों के साथ अर्थात् गैर असमियों के साथ हुआ इसमें देश को स्वतन्त्र करवाने वाले शहीदों और भारत को एक करने वाले सरदार पटेल का घोर अपमान हुआ। देश व विदेश में रहने वाले वे देशभक्त जो भारत को सदा प्राचीन काल की तरह सम्पूर्ण विश्व में सर्वाधिक मान दिलवाना चाहते हैं, उनका माथा शर्म से झुक गया। जिस भारत के राष्ट्रवाद द्वारा परस्पर प्यार व भाईचारे से अपनों के ही नहीं, अपितु विदेशियों को भी प्रभावित करके **'विश्व गुरु'** के सम्मान को प्राप्त किया था, आज उसके माथे पर कुछ नासमझदार लोगों ने नागावाद, महाराष्ट्रवाद और असमवाद के विवाद से कालिमा पोत दी है।

यदि हमारे नेता भारत के संविधान व मुद्रा पर छपे **'सत्यमेव जयते'** ध्येय वाक्य से प्रेरणा पाकर गत 56 वर्षों में देश को वैदिक राष्ट्रवाद के मार्ग पर चलाने का प्रयास करते तो आज हम भारतवासी महाराष्ट्र, पंजाब व असम की तरह एक दूसरे का खून करके कलंकित न होते। यदि देश में रहने वाले लोगों ने प्रान्तवाद की घृणा व हिंसा के स्थान पर राष्ट्रवाद से परस्पर प्यार व भाईचारे को बढ़ाया होता तो हम पृथक् कश्मीरवाद का मुद्दा उठाने वाले मुसलमानों को भी कुछ शिक्षा दे पाते। यदि संविधान के अनुसार ईमानदारी से राष्ट्रभाषा हिन्दी को सभी प्रान्तों में उचित सम्मान मिलता तो आज असम प्रान्त की दुःखद घटनाओं से भारत का सिर नीचा न होता। अत्यन्त लज्जा का विषय है कि जिस देश को स्वतन्त्र करवाकर उसकी एक पृथक् ऊँची शान बनाने हेतु महर्षि दयानन्द सरस्वती तथा उसके आर्यसमाज ने सौ में से 85 प्रतिशत लोगों का बलिदान दिया, विष के प्याले पिये, हंसते-हंसते फांसी पर चढ़े। शेरे पंजाब लाला लाजपतराय ने लाठियाँ खाईं। अनेकों आर्य वीरों ने सीने पर गोलियाँ खाईं। आज उसके नागरिक प्रान्तवाद के नाम पर एक दूसरे से लड़ते हुए राष्ट्र की हत्या करके देश को पुनः परतन्त्रता के पथ पर ले जाने का निन्दित कुप्रयास कर रहे हैं। क्या इन घटनाओं से देश को एकता के डोर में पिरोने वाले सरदार पटेल की अथवा क्रान्तिकारियों की आत्मा को शान्ति मिलेगी? क्या इस प्रान्तवाद की आग के देश के शेष भागों में फैल जाने पर असम, महाराष्ट्र या किसी भी अन्य प्रान्त का निवासी सुखी व सुरक्षित रह सकेगा? यदि अन्य प्रान्तों के लोग भी अपने यहाँ से दूसरे प्रान्त के लोगों को असम की तरह ही मारपीट, लूटमार या हत्या करके खदेड़ने लगेंगे तो इसके कितने भयंकर परिणाम निकलेगें। क्या इससे कोई असमी देश के किसी भी कोने में नौकरी, व्यापार या खेती करने की स्थिति में रह सकेगा?

इस बात को महान् राष्ट्रवादी देशभक्त छत्रपति शिवाजी के अनुयायी श्री ठाकरे जी

तथा उनके साथी भी गम्भीरता से विचार करें। क्योंकि मुम्बई से भी गैर मराठियों को हटाने की निन्दित चर्चायें भी गरमाती रहती हैं।

मौलिक बात विचारने की यह है कि इस प्रान्तवाद के निन्दित विवाद को हवा देकर क्या हमारे देश की अखण्डता सुरक्षित रह सकेगी? ऐसा लगता है कि आजादी के 56 वर्ष के पश्चात् भी भारत के नागरिकों को यह पता नहीं है कि देश कहते किसे हैं। एक शान्त व समृद्ध राष्ट्र की आधारशिला क्या है? देश और राष्ट्र का परस्पर रिश्ता क्या हैं? देश शब्द का अर्थ केवल भूमि का टुकड़ा नहीं, अपितु एक ऐसा पावन स्थान है जिसे एक विशेष सभ्यता तथा भाषा से दिशा मिलती है। जिस पर राज्य करने वाले लोग उस सभ्यता का सत्कार करते हुए उसे उस भाषा से जोड़े रखते हैं। हमारे देश की प्राचीन सम्यता **'वैदिक संस्कृति'** है। संविधान में प्राचीन सभ्यता की धरोहर को सुरक्षित रखना प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य बताया गया है। इसी वैदिक संस्कृति को सर्वहितकारी व सर्वलोकप्रिय मानकर उसके एक उपदेश **'सत्यमेव जयते'** को संविधान तथा भारत सरकार की प्रत्येक मुहर व मुद्रा पर अंकित किया गया। इसी से संविधान के सैकुलर होने की शोभा बढ़ रही है। क्योंकि ईश्वर प्रदत्त वेदवाणी का प्रत्येक मन्त्र तथा शिक्षा निर्विवाद रूप से सबके लिए अनुकरणीय व एक समान लाभकारी है। इसलिए संविधान के हिन्दी अनुवाद में सैकुलर का अर्थ धर्मनिपेक्ष न करके 'मतनिरपेक्ष' किया है। क्योंकि संविधान धर्मसापेक्ष है अथवा यूँ कहना चाहिए कि 'धर्म' सबके लिए बराबर लाभकारी हैं, परन्तु मत नहीं। प्रान्तों या देशों में झगड़े धर्म से नहीं मतों से हैं। धर्म तो कभी भी झगड़े का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि वह ईश्वरीय है। सबका एक है, जैसे सूर्य, चन्द्र पृथ्वी, हवा या पानी। परन्तु मत समय-समय पर होने वाले व्यक्तियों की रचना होने के कारण अपूर्ण व विवाद ग्रसित है। संस्कृति के अन्तर्गत संस्कृत के पश्चात् दूसरी भाषा हिन्दी है, क्योंकि यह सबसे अधिक बोली जाती है और इसी के प्रचार प्रसार से भारत एक हो सकता है देश में रहने वाले विशेष जनसमुदाय को राष्ट्र कहते हैं। परन्तु राष्ट्र का अर्थ लोगों की भीड़ से नहीं है। इसका वास्तविक अर्थ है देश व उसकी भाषा तथा सभ्यता के लिए मतदान व बलिदान करने वाले लोग। **राष्ट्र** शब्द जिस-**रै-रा** धातु से बनता है-इसका अर्थ है-**दान और बलिदान** और **'ष्ट्र'** का अर्थ है- **स्वभाव** अर्थात् दोनों को मिलाकर अर्थ हुआ-**देश, राष्ट्रभाषा व संस्कृति की सुरक्षा एवं मान हेतु बलिदान करने वाले लोग**। जो दूसरों की समृद्धि तथा उन्नति हेतु अपने सुख का त्याग करते हों। जो देश की रक्षा हेतु क्रान्तिकारियों की तरह अपने सुखों का बलिदान कर सकते हैं। इसमें दो मत नहीं हैं कि राष्ट्रभाषा राष्ट्र की वह आत्मा होती है जिससे देश में रहने वाले सभी जन एक दूसरे की बात समझ सकते हैं और जुड़ सकते हैं। अत्यन्त लज्जा का विषय है कि पिछले 50 वर्षों में हम राजभाषा हिन्दी को सभी प्रान्तों की प्रिय न बना सके। इसी के परिणाम स्वरूप आज असम के लोग राजभाषा हिन्दी से प्यार करने की अपेक्षा हिन्दी भाषियों का रक्त बहा रहे हैं। यदि हिन्दी उनकी भाषा बन गई होती तो ऐसा वे कभी न करते। जो लोग हिन्दी को राजभाषा का उचित स्थान दिलवाना कठिन

मान रहे हैं, उन्हें विचारना चाहिए कि जिस तरह से बचपन से ही पढ़ाई जाने के कारण एक विदेशी भाषा अंग्रेजी असम सहित सभी प्रान्तों की लोकप्रिय बन गई। यदि ऐसा प्रयास हिन्दी के लिए भी किया जाता तो वह भी असम आदि प्रान्तों की प्रिय बनकर झगड़ो के स्थान पर परस्पर प्रेम को बढ़ाती। महर्षि दयानन्द 'गुजराती', सुभाष चन्द्रबोस 'बंगाली', लाला लाजपतराय 'पंजाबी', श्री लोकमान्य तिलक व वीर सावरकर मराठी भाषी के अहिन्दी भाषी होते हुए भी हिन्दी भाषा को राजभाषा का दर्जा दिलवाया। क्योंकि देशभक्त तथा दूरदर्शी लोग ये जानते थे कि हिन्दी भाषा को छोड़कर कोई अन्य भाषा राष्ट्र को एक नहीं कर सकती। कारण एक हिन्दी भारत में सबसे अधिक प्रान्तों व लोगों की भाषा है। कारण दूसरा हिन्दी सभी भाषाओं के समीप है, मराठी की तो लिपि भी देवनागरी है। पंजाबी व गुजराती भी प्रत्येक हिन्दी भाषी को समझ आ सकती है, उर्दू भाषा तथा हिन्दी में तो बहुत कम अन्तर है। यदि इसकी भी लिपि देवनागरी कर दी जाए तो यह भी वैसी ही लगे। कारण तीसरा भारत के प्रान्तों की सभी भाषाओं में हिन्दी के बहुत शब्द पाये जाते हैं। हिन्दी भाषा के संस्कृत के बहुत समीप होने से इसमें बहुत अधिक शब्द भण्डार हैं। इसी कारण से हिन्दी अंग्रेजी से कहीं अधिक सम्पन्न भाषा है। अतः हिन्दी का सम्मान राष्ट्रिय एकता तथा भारतीयता का सम्मान है।

हम सभी प्रान्तवासियों को एक बात और गम्भीरता से विचारनी चाहिए कि 'प्रान्त' शब्द का अर्थ पृथक् भाषा का क्षेत्र न होकर शासन की दृष्टि से देश का एक पृथक् विशेष भाग है। क्योंकि एक बहुत बडा क्षेत्र होने के कारण शासन करना कठिन होता है। जैसे कि देखिए उत्तर प्रदेश, उत्तरांचल, हिमाचल, हरियाणा, मध्यप्रदेश, बिहार, दिल्ली, व राजस्थान ये आठ राज्य पृथक्-पृथक् होने पर भी वहाँ के लोगों की भाषा एक न होकर पृथक्-पृथक् भी हो सकती है जैसे कि पंजाब, उत्तर प्रदेश, हिमाचल, हरियाणा व महाराष्ट्र में हिन्दी के साथ-साथ पंजाबी तथा उर्दू भी चलती है। इससे यह सिद्ध होता है कि 'प्रान्त' के नाम पर किसी खास भाषा को आधार बनाकर दूसरी भाषा वालों से वैर रखना भी महामूर्खता ही है। यदि यह 'प्रान्तवाद' की अज्ञानयुक्त परस्पर लड़ाई नहीं रुकी तो भारत में कोई भी प्रान्त सुरक्षित न रह सकेगा, क्योंकि इसी परस्पर की फूट ने ही तो हमें सदियों तक विदेशियों का गुलाम बनाए रखा था। पहली बात तो यह है कि केन्द्र द्वारा हर प्रान्त में उसकी उन्नति, उसकी रक्षा व समृद्धि हेतु दूसरे प्रान्तों के अधिकारियों तथा सेनानियों को भेजा जाता है। क्या भाषा के नाम पर चल रही लड़ाई के रहते कोई बुद्धिमान् ऐसे दंगाग्रस्त अशान्त क्षेत्र में आना चाहेगा? क्या इसके बिना हमारे प्रान्तों का उत्तम शासन तथा विदेशी हमलावरों द्वारा सीमाओं की पूर्ण सुरक्षा हो पायेगी? क्या सभी प्रान्तों में भाषा तथा प्रान्तवाद के विवाद के पनप जाने के पश्चात् एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में ट्रक, बस, गाड़ी, पानी, नदी, रेल, गेहूँ, कम्बल, मशीनरी तेल, डीजल व विदेशियों का उच्च्व शिक्षा हेतु आना जाना हो सकेगा? क्योंकि आज हजारों असम के विद्यार्थी दूसरे प्रान्तों में पढ़ते हैं। दिल्ली राज्य के विषय में यदि कहा जाए तो वहीं आज के दिन एक करोड़ से ऊपर जनसंख्या है, जिसमें

दिल्ली के अपने 20 प्रतिशत भी मूल निवासी नहीं यदि दिल्ली में भी यही प्रान्तवाद का तरीका अपनाकर गैर हिन्दी भाषियों को दिल्ली से निकाल दिया तो फिर उन लोगों का क्या बनेगा। जब असम की तरह ही प्रत्येक प्रान्तवासी आर्यों को निकालना या मारना शुरू करेगा तो क्या फिर यह देश एक स्वतन्त्र व सुरक्षित देश कहला सकेगा अथवा पुन: फूट के कारण शक्तिहीन तथा खण्डित होकर विदेशियों का गुलाम होगा? यदि असम के वे लोग हिन्दी भाषी भारतीयों को निकालने की अपेक्षा गैर हिन्दुस्तानी भारतद्रोही बंगलादेशी व पाकिस्तानियों को वहां से निकालने का अभियान चलाते तो असम में रहने वाले सभी भारतवासी एक हो जाते, जिससे कि भारत माँ की सच्ची सेवा होती। जिससे देश के लिए शहीद होने वाले लागों का सत्कार होता तथा इनके वहाँ से निकल जाने पर असम में बढ़ रहा पृथक्तावाद और आतंकवाद भी रुक जाता।

हमें आशा है कि इन भावी खतरों तथा विनाश की सम्भावानाओं को ध्यान में रखकर हम देश की सुरक्षा व समृद्धि हेतु वैदिक राष्ट्रवाद के तीन सूत्रों राजभाषा हिन्दी, भारत भूमि तथा पक्षपातरहित विश्व प्रेममयी वैदिक संस्कृति को अपनायेंगे। वैदिक राष्ट्रवाद ही वर्तमान की सभी राष्ट्रिय समस्याओं का मूल समाधान है। वेद में राष्ट्र की उपमा मानव के शरीर से दी गई है जैसे कि **'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्'** अर्थात् जैसे सिर, बाजू, पेट तथा पैर मिलकर शरीर को चलाते हैं ठीक वैसे ही विद्वान्, सेनानी, व्यापारी तथा चतुर्थश्रेणी के लोग मिलकर राष्ट्र को चलायें। जैसे शरीर की त्वचा का प्रत्येक नस-नाड़ी परस्पर मिल-जुल कर शरीर को ढकती तथा प्रत्येक अंग को शक्ति देती है, ठीक वैसे ही इसमें रहने वाले नागरिक राष्ट्र के एक कोने से दूसरे कोने तक मिलजुल कर कार्य करते व निवास करते हुए शरीर रूपी राष्ट्र को जीवन देते रहें और त्वचा के समान एकरस होकर इसकी एकता की शोभा बढ़ाते रहें। जिस प्रकार से कहीं मार्ग में पड़े कटे हुए हाथ का कोई मूल्य नहीं होता और उसे देखकर कोई उसे शरीर नहीं कहता ठीक वैसे ही संगठन से टूटे हुए एक अलग प्रान्त का न तो कोई मूल्य है न ही सुरक्षा और नहीं उस देश को कोई सम्मान देता है। अत: यदि इस देश में रहने वाले सभी लोगों को बाह्य शत्रुओं से सुरक्षित रहना है, एक देश जैसे सम्मान को प्राप्त करना है अथवा उन्नत होकर अपने मूल्य को स्थापित करना है तो सदा शरीर के अंगों की तरह सभी प्रान्तों को एक दूसरे की सहायता तथा सम्मान करते हुए सदा एक रहना चाहिए। विशेष जानकारी के लिए लेखक की पुस्तक **'धर्म के नाम पर'** निम्न पते पर मात्र ग्यारह रुपये की टिकट भेज कर पुस्तक नि:शुल्क प्राप्त कर सकते हैं।

आचार्य आर्य नरेश
वैदिक गवेषक
उद्गीथ साधना स्थली
गुलमोहर अपार्टमेंट, नियर वडेला, नई दिल्ली-110018

भक्तवर प्रह्लाद

एक क्रान्तिकारी प्रेरणात्मक जीवन

कभी-कभी संसार में ऐसा भी होता है कि अत्यन्त दुष्ट एवं अत्याचारियों के यहाँ सज्जन तथा दिव्यात्माओं का जन्म हो जाता है। भक्त प्रह्लाद भी ऐसे ही तामसिक वृत्तियों के सेनापति हिरण्यकशिपु के घर में जन्मे थे। उनकी माता का नाम कयाधू था। जब हिरण्यक कठोर तप के द्वारा अपनी भौतिक शक्तियों की साधना में जुटा हुआ था और अपने को संसार में एक छत्र सम्राट् बनाने के उद्यम में लगा हुआ था, तब नारद मुनि ने कयाधू को अपने आश्रम में रखकर निर्मल भक्ति एवं सत्यधर्म का उपदेश दिया था। प्रह्लाद गर्भ में थे, मुनि के उपदेशों का गर्भस्थ बालक पर अप्रतिम प्रभाव पड़ा। कयाधू के चार पुत्र और सिंहिका नाम की पुत्री भी थी। यथा-

हिरण्यकाशिपोर्भार्या कयाधूर्नाम दानवी।
जम्भस्य तनया दत्ता सुषुवे चतुरः सुताम्।।
संह्लादं प्रागनुह्लादं ह्लादं प्रह्लादमेव च।
तत्स्वसा सिंहिका नाम राहुं विप्रचितोऽग्रहीत्।। भाग०६.१८.१२-१३

यथासमय बालक प्रह्लाद का जन्म हुआ। प्रह्लाद अपने भाइयों में सबसे छोटे होते हुए भी गुणों में सबसे बड़े थे। वे सौम्य स्वभाव, सत्य-प्रतिज्ञ, सन्त-प्रकृति, जितेन्द्रिय एवं सबका आदर करने वाले थे। गरीबों पर विशेष स्नेह रखते थे। अपने इन श्लाघनीय गुणों के कारण बालकपन से ही वे सबके प्यारे बनते गये। खेल-कूद को छोड़कर उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति भगवान् की भक्ति में थी, किन्तु दूसरी ओर उसका पिता अपने भाई की मृत्यु के कारण भगवान् की सत्ता एवं उस समय के बड़े-बड़े राजाओं से द्वेष करता था।

एक बार हिरण्यक ने बड़े प्यार से अपने प्यारे पुत्र प्रह्लाद को गोद में बिठाकर पूछा-**"पुत्र! संसार में तुम्हें सबसे अच्छा क्या लगता है?"** हिरण्यक सोचता था कि प्रह्लाद कहेगा कि मुझे सबसे अच्छे आप लगते हैं किन्तु उसकी सब आशाओं पर पानी फिर गया, जब प्रह्लाद ने सहज भाव से कहा-**"पिताजी! मुझे तो अपने तथा पराये के भेद के आग्रह से अलग प्रभु की भक्ति में मन को लगानाा अच्छा लगता है। चाह होती है संसार के कोलाहल से दूर प्रभु के चरणों में बैठकर ध्यान करूँ।"**

हिरण्यकशिपु बालक की इस बात को सुनकर बड़ा आश्चर्यचकित हुआ। वह अपने पुत्र को दूसरे मार्ग की ओर जाता देख ऊपर से नीचे तक जल उठा। उसका सारा शरीर क्रोध में काँपने लगा। उसका क्रोध में आना स्वाभाविक था क्योंकि ईश्वर का नाम लेना तो उसकी दानवी प्रवृत्तियों के खिलाफ था। भौतिक साधनों की उसके यहाँ भरमार थी। (पढ़िये

भागवत् के 7 वें स्कन्ध का चतुर्थ अध्याय)।

तब भौतिकवाद का नग्न ताण्डव हो रहा था। भला ऐसे राक्षसवृत्तियों के राजा के राज्य में क्यों कर कोई भगवान् का नाम लेकर बेमौत मरता? वहाँ तो उसकी आज्ञा ही सर्वोपरि थी। वह उस समय का एकछत्र सम्राट् था। अपने सेवकों और राज्याधिकारियों को उसका स्पष्ट आदेश था कि "राष्ट्र में जहाँ-जहाँ धर्म-कर्म हो, वर्णाश्रम धर्म का पालन हो वह सब नष्ट कर दो। ब्राह्मणों को, क्षत्रियों को, गायों को 'वेदों को जला दो, जड़मूल से विनष्ट कर दो। यथा-

विष्णुर्द्विजक्रियामूलो यज्ञो धर्ममयः पुमान्।

देवर्षिपितृभूतानां धर्मस्य च परायणम्।। भाग०२. ७.११

यत्र यत्र द्विजा गावो वेदा वर्णाश्रमाः क्रियाः।

तं तं जनपदं यात सन्दीपयत वृश्चतः।। भाग०२.७.१२

तदनन्तर उसके अनुचरों ने नगर के नगर, गाँव के गाँव उजाड़ दिये, हरे-भरे उद्यान काट डाले। जला डाले। नष्ट कर डाले। भयंकर मारकाट मचा दी-

इति ते भर्तृनिर्देशमादाय शिरसाऽदृताः।

तथा प्रजानां कदनं विदधुः कदनप्रियाः।। २. ७.१३

पुरग्रामव्रजोद्यानक्षेत्राश्रमाकरान्।

खेटखर्वटघोषाश्च ददहुः पत्तनानि च।। २. ७.१४

वस्तुतः राक्षसवृत्ति के मनुष्य स्वभाव से ही दूसरों को सताकर सुखी होते हैं। वे जनता का नाश करने लगे। इस प्रकार हिरण्यक का राज्य तपने लगा।

किन्तु अपने पुत्र प्रह्लाद की बात सुनकर उसका माथा ठनका। उसने उसे विद्यालय में पढ़ने के लिए भेजा। बालक प्रह्लाद षण्ड और अमर्क नामधारी गुरुओं के शिष्य बने। गुरु भी यथानाम तथागुण थे। वे राजा के सेवक और पराधीन थे। वे बालकों को राजनीति और अर्थनीति की शिक्षा के साथ हिरण्यक की विचारधारा का पोषण भी करते थे। उनके पाठ का मूल आधार अपने और पराये का झूठा आग्रह था। उनकी शिक्षा राग-द्वेष से पूर्ण थी। यथा-

तौ राजा प्रापितं बालप्रह्लादं नय कोविदं। ५. ७. २

किन्तु प्रह्लाद पर माता के नारद मुनि के आश्रम में निवास के कारण आध्यात्मिक संस्कार इतने गहरे जमे हुए थे कि गुरुओं की अधूरी, उल्टी शिक्षा उन पर अपना कोई प्रभाव न जमा सकी। वे गुरुजनों को ही सत्यमार्ग बताने लगे। गुरु यह देखकर एकदम गरज उठे। उन्होंने कहा-"खबरदार, अब कभी ऐसी बात न कहना" किन्तु प्रह्लाद नित्य ही खण्डन-मण्डन करने लगे। गुरु यह देखकर बड़े झल्लाये। भागे-भागे हिरण्यक के पास गये। प्रह्लाद के विचारों की सर्वत्र चर्चा की।

हिरण्यक बात सुनते ही आग-बबूला हो गया। उसने प्रह्लाद को गोद से उठाकर पटक दिया। अनेक शंकायें उसके हृदय में घर कर गयीं, उसने सोचा शायद गुरुओं की दृष्टि बचाकर कोई इसे इस प्रकार की शिक्षा देता है। यथा-

"विष्णुपक्षैः प्रतिच्छन्नैर्भिद्यतास्य धीर्यथा" (अ5. स्क. 7. श्लो 7) किन्तु अगले ही क्षण प्रह्लाद की वही रटन्त देखकर उसके नेत्र अंगारों से दहकने लगे। होंठ फड़फड़ाने लगे। उसने अनुचरों से कहा-"इस कुलांगार को मेरे सामने से ले जाओ और मार डालो"-

आहामर्षरुषाविष्टः कषायीभूतलोचनः।

वध्यतामाश्वयं वध्यो निःसारयत नैर्ऋताः॥५. ७.३४

आज्ञा सुनकर दुष्टों ने प्रह्लाद को बहुतेरा डराया धमकाया। अनेक शारीरिक यातनायें एवं मानसिक कष्ट दिए। अनेक प्रलोभन भी दिये, किन्तु प्रह्लाद को ईश्वर की सत्ता मानने और उसकी भक्ति एवं प्रचार से विमुख न कर सके।

यदि हम इस कथा को वैज्ञानिक दृष्टिकोण द्वारा उस समय की राजनैतिक, सामाजिक व धार्मिक अवस्थाओं के परिप्रेक्ष्य में एक संगति-परक, सत्य-परक दृष्टि से देखें तो यह आस्तिक प्रवृत्तियों और नास्तिक प्रवृत्तियों का झगड़ा था। सत्ता-परिवर्तन का युद्ध था। भौतिकवाद से, अहंवाद से अध्यात्मवाद की लड़ाई थी। दूसरे शब्दों में शुद्ध राज्य-क्रान्ति थी।

चूंकि राजनैतिक दृष्टि से हिरण्यक एकछत्र सम्राट् बना हुआ था। समस्त छोटे-बड़े राजा उसके आक्रोश से पीड़ित थे। वे अपने लोक अर्थात् स्थानों को छोड़कर भयभीत लुके-छिपे फ़िरते थे। बड़े-बड़े नगर और ग्राम उसने उजड़वा दिए थे।

धार्मिक दृष्टि से धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष में से मोक्ष का तो कहीं नाम ही नहीं था। काम और अर्थ का सेवन होकर धर्म गौण बन गया था। अखण्ड भौतिकता का साम्राज्य था। ईश्वर के प्रति अश्रद्धा का भाव उत्पन्न किया जा रहा था। दिव्य-भावनाओं को समूल नष्ट किया जा रहा था। ईश्वर की सर्वव्यापकता ख़तरे में पड़ी थी।

इस प्रकार आर्यत्व का विनाश और अनार्यत्व का खुला प्रचार व प्रसार था। सनातन वैदिक पथ पर कुठाराघात हो रहा था। धर्मात्मा लोग तथा निरीह प्रजा बड़े संकट में थी। हिरण्यक के दुर्दान्त अत्याचारों से प्रजा तंग थी। समस्त राज्याध्यक्ष उसके उग्र स्वाभाव से तंग थे, यथा-**"तस्योग्रदण्डसविघ्ना सर्वे लोकाः सपालकाः"** (अ.4. स्क.7. श्लो. 21)। सज्जन लोग ईश्वर का स्मरण करते हुए उसके विनाश की प्रार्थना करते थे। क्षत्रिय राजा आकुल-व्याकुल थे, चुपके-चुपके अन्दर ही अन्दर एक ज्वाला भड़क रही थी। वह पुत्र पर ही घोर अत्याचार कर रहा था। यह सब देखकर अनेक राज्याधिकारी एवं प्रजाजन प्रह्लाद-समर्थक होते जा रहे थे। भगवान् की भक्ति से प्रह्लाद की आत्मिक शक्ति इतनी प्रबल हो गयी थी कि उसने उस भंयकर वातावरण में भी अपनी बात कहने का महान् प्रयास किया। पिता से लड़ाई ठान ली।

यदि संसार के चक्र को देखें और इतिहास के पन्नों पर दृष्टि दौड़ायें तो अपने देश की ही नहीं अपितु विदेशों की भी ऐसी अनेक घटनायें दृष्टिगोचर होंगी। फ्रांसीसी इतिहास के पन्ने के पन्ने ऐसी घटनाओं से भरे पड़े हैं। ऐसे क्रूर, दम्भी, अत्याचारी एवं अपने को सब कुछ समझने वाले शासकों का "महाभारत" में खुला वर्णन है। आज भी पड़ोसी देशों में प्रजा-जन उनसे विस्फोट के लिए तैयार हैं। याहिया और अयूब पहले ही इस दाम्भिक प्रवृत्ति से नष्ट हो चुके हैं। यह संसार का अटल नियम है कि कोई भी प्राणी जब दिव्य जनों, वेद, गायों, ब्राह्मण, निरीह प्रजा पर अत्याचार कर; ईश्वर की सत्ता को चुनौती देता है, तब उसका विनाश अवश्य होता है। वह अपने कुकर्मों के द्वारा मृत्यु मार्ग प्रशस्त कर लेता है, यथा-स्क0 7. अ04. श्लो0 27।

अन्ततोगत्वा अपने पुत्र प्रह्लाद की इन प्रवृत्तियों के कारण हिरण्यक चिन्तित रहने लगा। षण्ड और अमर्क ने उसे समझाया बुझाया। पाठकगण! प्रकरण-भेद से हम यहाँ एक घटना का उल्लेख करना चाहेंगे जो प्रह्लाद के साथ जोड़ी गयी है। कहते हैं "अपने भाई हिरण्यक को चिन्तित व दु:खी देखकर 'होलिका' ने हिरण्यकशिपु से प्रह्लाद को मार डालने का एक उपाय बताया। उसके पास 'अग्नि रक्षक-वस्त्र' थे। वह उन्हें पहन कर प्रह्लाद को लेकर अग्नि में कूद पड़ी। वह खुद जल गयी। प्रह्लाद बच गये। किन्तु इस कथा में कोई सार नहीं। लगता है कथा वाचकों ने कथा को चटपटी करने के लिए वैसे ही बाद में जोड़ दी है क्योंकि स्पष्ट है-

दितेर्द्वावेव दायादौ दैत्यदानववन्दितौ।

हिरण्यकशिपुर्नाम हिरण्याक्षश्च कीर्तितौ।। भाग०६.१८.१४

दिती के यशस्वी दो ही पुत्र थे। हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष। 'होलिका' नाम की कोई पुत्री नहीं थी। खैर, तदनन्तर प्रह्लाद के प्रभाव को बढ़ता देख चिन्ताग्रस्त होकर हिरण्यक का क्रोध सातवें आसमान पर जा पहुँचा। उसने प्रह्लाद को वरुण के पाशों (अ.5. स्क.7. श्लो.50) अर्थात् कारागार में प्रतिबन्धित करवा दिया। उसको भूखा-प्यासा रखा गया। किन्तु प्रभु-भाक्ति में लीन आत्मिक शक्ति के धनी उस वीर युवक सत्याग्रही को कोई प्रलोभन तथा अत्याचार सत्यमार्ग से डिगा न सके। सत्य ही, क्रान्तिवीरों, धर्मवीरों तथा राष्ट्रवीरों ने क्या-क्या कष्ट नहीं झेले? पर कभी सिर नहीं झुकाया। स्मरण करें वीर हकीकतराय को, बन्दावीर वैरागी को, गोविन्द सिंह गुरु के दो नन्हें लाड़ले बेटों -जोरावर सिंह व फ़तह सिंह- को, जो धर्म की वेदी पर बलिदान हो गये। कारागार की सुदृढ़ दीवारें, चमचमाती तलवारें और लौहशृंखलायें भी इनके महान् संकल्प को, असीम धैर्य को, महान् व्रत को डिगा न सकीं। वसुदेव औद देवकी को भी कारागार में बन्दकर कंस ने महान् क्रान्ति को जन्म दिया। कारागार की सुदृढ़ दीवारों में ही जन्मे थे। 'महाभारत' युद्ध के अप्रतिम सूत्रधार वीर शिरोमणि योगिराज श्रीकृष्ण चन्द्र जी महाराज। धार्मिक क्रान्ति के क्षेत्र वीरों ने ही सींचें हैं वे अमर हैं, उनका नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित है।

युवक प्रह्लाद भी एक ऐसा ही क्रान्तिवीर था। जिसने अपने पिता हिरण्यक की सत्ता

को खुली चुनौती दी थी। आखिर कड़े पहरे में प्रह्लाद को फिर उन्हीं राजभोगी गुरुओं षण्ड और अमर्क को सौंपा गया, किन्तु प्रह्लाद अपने प्रण से कब हटने वाला था? **'न्यायात्पथः प्रवचलन्ति पदं न धीराः'** धैर्यवान् पुरुष न्याय के पथ से 'विचलित नहीं हुआ करते।' वह गुरुओं की अनुपस्थिति में युवक विद्यार्थियों में क्रान्तिकारी विचार भरने लगा। उनको एकत्र करके उसने वे सामयिक भाषण दिए कि समस्त बालक उसके प्रभाव में आने लगे। प्रजा भी उसके विचारों से अवगत होने लगी, जागृत होने लगी। क्रान्तिकारियों का एक व्यापक समूह बनने लगा। सर्वत्र उसके विचारों की गूंज होने लगी। वह कहता कि- तुम लोग अपने दैत्यपन को, आसुरी सम्पत्ति को, त्यागकर समस्त प्राणियों पर दया करो। प्रेम से उनकी भलाई करो। इसी से भगवान् प्रसन्न होते हैं। यथा-

तस्मात् सर्वेषु भूतेषु दयां कुरुत सौहृदयम्।
आसुरं भावमुन्मुच्य यथा तुष्यत्यधोक्षजः॥ (६.. ७. २४)

हे दानव बन्धुओ! समस्त प्राणियों को अपने समान समझकर, सर्वत्र विराजमान सर्वशक्तिमान् भगवान् का स्मरण करो यथा-

ततो हरौ भगवति भक्तिं कुरुत दानवाः।
आत्मौपम्येन सर्वत्र सर्वभूतात्मनीश्वरे॥ (७. ७.५३)

अपने साथियों और प्रजावर्ग से कहता कि तुम प्रभु पर श्रद्धा लाओ। वे मन की वस्तु है। अन्तर्यामी को शुद्ध अन्तरात्मा के द्वारा ही जाना जा सकता है यथा-

भवतामपि भूयान्मे यदि श्रद्दधते वचः।
वैशारदी धीः श्रद्धातः स्त्रीबालानां न मे यथा॥ (७.१.१७)
हरिः सर्वेषु भूतेषु भगवानस्ति ईश्वरः।
इति भूतानि मनसा कामैस्तैः साधु मानयेत्॥ (७. ७.३२)

वेद भी कहता है-"पश्यन्ति सर्वे चक्षुषा न सर्वे मनसा विदुः" (अथर्व10.8.14)

इस प्रकार प्रह्लाद के इन ओजस्वी विचारों का साथियों तथा प्रजावर्ग पर गहरा प्रभाव पड़ा (भागवत 7.8.1 देखें)। अनेकों ने विविध शंकायें की, उसने उनके समुचित, सामयिक उत्तर दिए। इस प्रकार उसके विचारों की धूम मच गयी। प्रजा उसकी ओर होने लगी। कुछ वीर एवम् धर्मात्मा तो इस अवसर की बाट देख रहे थे। हिरण्यक साम दाम-दण्ड-भेद आदि सभी नीति अपनाकर थक गया। गुरुओं ने फिर हिरण्यक से कहा सब बात जानकर तथा सुनकर हिरण्यकशिपु का खून खौल उठा। वह आपे से बाहर हो गया। उसने प्रह्लाद से कहा- 'तू मिथ्या प्रचार करता है, लोगों को मुझसे फोड़ता है। बगावत करता है। 'यथा आप भी पढ़िये भागवत का अर्थ सहित श्लोक- 'मूर्ख! तू बड़ा उद्दण्ड हो गया है, स्वयं तो नीच है ही, अब हमारे कुल के बालकों को भी फोड़ना चाहता है। तूने बड़ी ढिठाई से मेरी आज्ञा का उल्लंघन किया है। आज ही तुझे यमराज के घर भेजकर इसका

फल चखाता हूँ-

हे दुर्विनीत! मन्दात्मन्कुल भेदकराधम्।

स्तब्धं मच्छासनो दतं नेष्येत्वाद्य यमक्षयम्।। भाग०८.७.६

किन्तु अपने पिता को समयोचित चेतावनी देते हुए उसने कहा-"छोटे से बड़े जीव सब भगवान् के आश्रय में हैं। मेरे और आपके ही नहीं अपितु वह सब बलों के बल हैं। वह सर्वशक्तिमान् प्रभु सर्वत्र हैं। पिताजी आप अपना यह असुर भाव छोड़ दीजिए। अपने मन को सबके प्रति समान बनाइये। मन में सबके प्रति समता का भाव लाना ही भगवान् की भक्ति है।" यथा-

न केवलं मे भक्तश्च राजन्, स वै बलं बलिनां चापरेषाम्।

भाग08. 7.8

स ईश्वरः काल उरुक्रमोऽसावोजः, सहः सत्वबलेन्द्रियात्मा।

भाग0 8. 7.9

जह्यासुरं भावमिमं त्वमात्मनः समं मनो धत्स्व न सन्ति विद्विषः।

ऋतेऽजितादात्मनः उत्पथस्थितात् तद्धिह्यनन्तस्य महत् समर्हणम्।

भाग0 8.7.10

यह सुनकर हिरण्यक बोला-'तू मेरे सिवाय ओर किसी को जगत् का स्वामी बताता है। तेरे बहकने की हद हो गयी। अच्छा मेरी इस राजसभा के खम्भे में भी तेरा जगदीश्वर है। तू उसे सर्वत्र बताता है यथा-

यस्त्वया मन्दभाग्योक्तो मदन्यो जगदीश्वरः।

क्वासौ यदि सर्वत्र कस्मात् स्तम्भे न दृश्यते।। (अ.८. ७.१३)

प्रह्लाद ने फिर कहा कि वह सर्वत्र है। तब प्रह्लाद को हिरण्यक पहले तो डांटता और झिड़कता रहा, किन्तु फिर भी प्रह्लाद अपने विचारों पर अडिग रहा। यह देखकर हिरण्यक भंयकर क्रोध से पागल हो हाथ में में खड्ग लेकर सिंहासन से कूद पड़ा। अभी वह प्रह्लाद पर वार करने वाला था कि तभी दैत्य सेनापितयों को भी भय से कंपा देने वाले उस अद्भुत और अपूर्व घोर शब्द को सुनकर हिरण्यक यह देखने लगा कि यह शब्द करने वाले कौन हैं, कहाँ से आ रहे हैं? (अ.8. स्क. 7 का17 वां श्लोक) आप भी पढ़िये और गुनिये-

स विक्रमन् पुत्रवधेप्सुरोजसा निशम्य निर्ह्रादमपूर्वमद्भुतम्।

अन्तः सभायां न ददर्श तत्पदं वितत्रसुर्येन सुरारियूथपाः।।

वस्तुतः यहाँ हमें तनिक अपनी बुद्धि पर जोर देना होगा। प्रह्लाद समर्थक प्रजावर्ग ने भयंकर व अद्भुत कर्म कर डाला। भंयकर कोलाहल करते हुए, राजसभा को घेर कर अन्दर

प्रवेश करके एक (नृ-सिंह) या 'नर-सिंह अर्थात् सिंह के समान भंयकर पराक्रमी पुरुष ने आगे बढ़कर हिरण्यकशिपु का वध कर डाला। वहाँ बड़ी मारकाट मची। क्रान्तिवीरों को अवसर की तलाश थी ही। धर्मवीर प्रह्लाद का जय-जयकार हुआ। एक नास्तिक सत्ता का विध्वंस होकर आस्तिक सत्ता का राज्यारोहण हुआ। **वैदिक पथ का पुनरुद्धार हुआ। धर्मात्मा पुरुषों ने एकत्र होकर प्रह्लाद से कहा-"वेदवादी मुनियों की आज्ञा में रहकर राज्य करो।"**यथा-

पित्र्यं च स्थानमातिष्ठ यथोक्तं ब्रह्मवादिभिः। भाग०१०.७.२३

यह है भक्तवर प्रह्लाद के भक्ति भरे श्रद्धामय क्रान्तिपूर्ण जीवन की अद्भुत चौंका देने वाली, प्रेरणादायी संगतिपूर्ण वैज्ञानिक अमर कहानी। वैसे नमक-मिर्च मिलाकर जैसी आप चाहें वैसी बना सकते हैं।

अतः आओ। इस नास्तिकता और अश्रद्धा के बढ़ते हुए युग में भगवान् की निर्मल भक्ति और उस पर श्रद्धा रखने का व्रत लेकर पापों और दुष्कर्मों तथा दुर्भावनाओं व दुष्कामनाओं की होली जला डालें। सदाचार, संयम, सेवा और समानता का भाव फैलाकर जीवन को ऊँचा और महान् बनायें। सफल बनायें। श्रेष्ठ कर्मों द्वारा संसार को आह्लादित कर दें।

महावीर 'नीर'
विद्यालंकार, गुरुकुल कांगड़ी (छोटा परिवार)
भू0पू0 मुख्याध्यापक एवं अध्यापक विद्यालय-विभाग

सोम भाई: एक निष्ठावान् समर्पित गांधीवादी

निष्ठावान् गांधीवादी, स्वतंत्रता सेनानी, खादी के लिए पूर्णत: समर्पित एवं गुरुकुल कांगड़ी के यशस्वी स्नातक श्री सोमदत्त वेदालंकार का गत 17 अप्रैल 2003 को पानीपत में देहान्त हो गया। वे 90 वर्ष के थे।

खादी कार्यकर्त्ताओं, ग्रामोद्योग क्षेत्र तथा सर्वोदय से जुड़े लोगों के लिए श्री सोमदत्त-सोमभाई के नाम से विख्यात थे। देश के स्वाधीनता आन्दोलनों और रचनात्मक कार्यक्रमों में अपनी सक्रिय भागीदारिता एवं प्रतिबद्धता के कारण सोमभाई नई पीढ़ी के लिए प्रेरणा और प्रोत्साहन के स्रोत हैं। उनके जीवन काल में ही खादी का कार्य उनके नाम का पर्याय बन गया था।

उनकी अन्त्येष्टि पूर्ण राजकीय सम्मान के साथ पानीपत खादी आश्रम के परिसर में ही की गई। इस अवसर पर केन्द्रीय गृह राज्य मन्त्री श्री आई. डी. स्वामी, खादी ग्रामोद्योग आयोग के वर्तमान अध्यक्ष श्री महेश चन्द्र शर्मा, भूतपूर्व अध्यक्ष श्री लक्ष्मीदास एवं भारी संख्या में खादी कार्यों से जुड़े व्यक्ति उपस्थित थे। हरयाणा सरकार की ओर से उन्हें गार्ड ऑफ ओनर प्रदान किया गया। मुख्य मन्त्री श्री चौटाला की ओर से पानीपत के कमीश्नर ने उनके शव पर माल्यार्पण किया।

सोम भाई का जन्म 13 मई 1913 को क्वेटा (पाकिस्तान) में हुआ था। यद्यपि इनका पैतृक आवास अम्बाला के निकट स्थित बबवाल गाँव में है। इनके पिता सेना की इंजीनियरिंग सेवा में थे, अत: उनका तबादला होता रहता था। इसी प्रक्रिया में जब वे क्वेटा में थे तभी वहाँ सोम भाई का जन्म हुआ था। इनकी माता श्रीमती मनभरी विद्याव्यसनी, और उदार विचारों की थी। अपने प्रयत्न से ही उन्होंने संस्कृत, अष्टाध्यायी एवं काव्य ग्रन्थों का अच्छा अध्ययन किया था। वे आर्यसमाजी तथा धार्मिक विचारों की थीं। इनके पिता श्री हीरालाल शर्मा भी सरकारी सेवा में होने पर भी राष्ट्रिय विचारों के थे। इसी कारण सोमभाई को 1921 में स्वामी श्रद्धानन्द जी द्वारा स्थापित गुरुकुल कांगड़ी की इन्द्रप्रस्थ शाखा (दिल्ली के निकट) में भेजा गया। गुरुकुल में छात्रों को आश्रम में रह कर ही शिक्षा प्राप्त करनी होती है। इस प्रकार सोम भाई ने 14 वर्ष आश्रम में रहकर विद्याभ्यास किया और 1934 में वेदालंकार की उपाधि प्राप्त की। इसके बाद भी सोमभाई ने दो वर्ष और उच्च शिक्षा प्राप्त कर 1935 में वेद वाचस्पति की उपाधि प्राप्त की।

राष्ट्रिय शिक्षा का प्रभाव-

गुरुकुल कांगड़ी की शिक्षा स्थापना ब्रिटिश सरकार की मैकाले की शिक्षा पद्धति के विरोध में राष्ट्रिय भावना से ओतप्रोत युवक तैयार करने के लिए की गई थी। विदेशी सरकार की शिक्षा नीति को खुली चुनौती के रूप में यह एक अभिनव अभियान था। इसका प्रभाव

छात्रों पर पड़ना स्वाभाविक था। सोम भाई में यह भावना अपने उत्कष्ट रूप में थी।

सोमभाई जब नवम कक्षा में थे तब उन्होंने अपने साथी छात्रों की ओर से गाँधीजी को गुरुकुल आने के लिए एक पत्र लिखा। गांधीजी उन दिनों दरिद्र नारायण के रूप में जहाँ भी जाते रुपया मांगते थे। उन्होंने इस शर्त पर गुरुकुल आना स्वीकार किया कि उनकी झोली में कुछ डाला जायेगा। यह शर्त कठिन थी। गुरुकुल में छात्र अपने पैसे नहीं रख सकते थे। फिर भी अधिकारियों के सहयोग से छात्रों ने चार आना दिहाड़ी पर निर्माण कार्य में मजदूरी की अपने घी, दूध आदि में कटौती की। जंगल में लकड़ियाँ काट कर गांधी जी के आने पर उन्हें 60 रुपये की थैली भेंट की। यह बात 1929 की है। छात्रों ने इसी प्रकार दो बार और गांधी जी को बुलाया और उन्हें न केवल रुपये अपितु अपने हाथ से कात कर सूत की एक मन लट्टियाँ-लच्छियाँ भी भेंट की। सूत देखकर गांधी जी अत्यधिक प्रसन्न हुए। राष्ट्रिय भावना का ही यह परिणाम था कि गुरुकुल में प्रत्येक छात्र के लिए खादी पहिनना अनिवार्य था।

सत्याग्रह आन्दोलन-

अध्ययन काल में ही छात्रों ने 30-32 में गांधी जी के सत्याग्रह आन्दोलन में भाग लिया। दर्जनों छात्र जिनमें सोम भाई भी थे जेल गए। गुरुकुल कुछ समय के लिए बंद हो गया। जेल में बीमारी के कारण सर्वमित्र नामक एक छात्र का निधन भी हो गया। सर्वमित्र की स्मृति में एक पत्रिका निकाली गई जिसके सम्पादक श्री सोमभाई बनाए गए। श्री सोम भाई 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन में भी सत्याग्रह कर जेल में गए। कई वर्ष बाद ताम्रपत्र देकर श्री सोमभाई को स्वतन्त्रता सैनिक के रूप में सम्मानित किया गया।

कार्यक्षेत्र में-

वेद वाचस्पति की उपाधि प्राप्त करने के बाद सोम भाई ने हिन्दी के मूर्धन्य पत्रकार श्री सत्यदेव विद्यालंकार के आग्रह पर 1934 में दैनिक हिन्दुस्तान के सम्पादकीय विभाग में कार्य शुरू किया। उस समय पत्रकारिता एक मिशन और राष्ट्रियता की भावना का द्योतक था। सोमभाई ने एक वर्ष तक यह कार्य किया। परन्तु ग्रामीण समाज में घुल मिलकर कुछ ठोस कार्य करने की अपनी अभिरुचियों के कारण तथा श्री विचित्र भाई की प्रेरणा से सोमभाई ने गांधी आश्रम के कार्य को प्राथमिकता दी और जीवन पर्यन्त इसी क्षेत्र में तन, मन, धन से लगे रहे। कार्य के साथ उनके क्षेत्र का विस्तार भी होता गया।

विस्थापितों का पुनर्वास-

स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ ही देश के विभाजन की त्रासदी के कारण विस्थापितों के पुनर्वास की समस्या ने गम्भीर रूप धारण कर लिया था। 1948 में श्री राजेन्द्र बाबू की अध्यक्षता में एक केन्द्रीय सहायता समिति का गठन किया गया। श्री सोम भाई को इस

समिति की पंजाब शाखा का सचिव नियुक्त किया गया। इस समिति ने विस्थापितों की आवास और पुनर्वास की समस्या को हल करने के साथ-साथ रोजगार देने के लिए व्यापक व्यवस्था की। इस कार्य के लिए स्वयं राजेन्द्र बाबू ने श्री सोमभाई को व्यक्तिगत रूप से बधाई दी।

खादी आश्रम की स्थापना-

1952-53 में श्री सोमभाई ने पानीपत में खादी आश्रम की स्थापना की। यह खादी आश्रम हरयाणा में खादी की बिक्री का अग्रणी केन्द्र बन गया है। इसकी शाखाएं भी अनेक स्थानों पर खुल गई हैं। इसके द्वारा हजारों लोगों को रोजगार की सुविधा मिल रही हैं। गांव-गांव में कताई-बुनाई के केन्द्र चल रहे हैं। उत्पादन के साथ बिक्री के भी नए कीर्तिमान स्थापित हुए हैं। इस सब का श्रेय सोमभाई की निष्ठा, कर्मठता, एवं प्रबन्धपटुता को जाता है। 1963 में सोमभाई ने गांधीवादी विचार पर आधारित विद्याभारती नामक एक शिक्षा संस्था की भी स्थापना की।

आयोग के अध्यक्ष-

1939 में खादी कार्यक्रमों से जुड़ने के बाद सोमभाई ने फिर कभी पीछे मुड़कर नहीं देखा। 1960 में खादी बोर्ड के खादी ग्रामोद्योग आयोग के रूप में गठित होने के बाद से निरन्तर इसके सदस्य रहे। 1977 से 1980 तक तीन वर्षों तक इस आयोग के अध्यक्ष रहे। उनके कर्मठ जीवन की यह उल्लेखनीय उपलब्धि तथा उनके कार्यों की यह सार्वजनिक मान्यता थी। 1963 में तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्री नरसिंह राव ने खादी के सम्पूर्ण विकास के लिए एक समिति बनाई थी। सोमभाई को उसका सदस्य नियुक्त किया गया था।

इसी प्रकार जिस गुरुकुल से उन्होंनें शिक्षा प्राप्त की। 1977 में कुछ समय के लिए उसके प्रशासक भी बनाए गए।

सार्वजनिक अभिनन्दन-

रचानात्मक क्षेत्र में सोमभाई की निष्ठा और प्रतिबद्धता को देखते हुए 1999 में जब सोमभाई 80 वर्ष के हुए, तब उनका सार्वजनिक अभिनन्दन किया गया। इस समारोह में भूतपूर्व प्रधानमन्त्री श्री चन्द्र शेखर, श्री सादिक भाई, सर्वोदयी नेता श्री सिद्धराज, श्री नवल किशोर आदि उपस्थित थे। उन्हें एक अभिनन्दन पत्र भी भेंट किया गया। उनके जीवन के सम्बन्ध में एक स्मारिका भी प्रकाशित की गई।

सन् 2000 में रचनात्मक कार्यों में प्रशंसनीय योगदान के लिए श्री सोमभाई को जमनालाल बजाज पुरस्कार से भी सम्मानित किया गया।

श्री दत्तात्रेय तिवारी विद्यालंकार

गुरुकुलीय शिक्षा प्रणाली

गुरुकुल यह शब्द सुनते ही प्राचीन गुरुकुलों का स्मरण हो जाता है। जो तपोवनों और तप:पूत ऋषियों के आश्रमों में होते थे। यहाँ कुल शब्द वंश या उसके परम्परा का बोधक नहीं है। कुल शब्द यहाँ समूह का भी वाचक नहीं है। गुरु के सान्निध्य में निरन्तर रहकर शिष्यगण विद्याध्ययन करते थे। इसके लिये जितेन्द्रिय, एकाग्रचित्त तथा दृढ़सङ्कल्पयुक्त होना अत्यन्त आवश्यक है। इसके निमित्त अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इन पाँच यम तथा शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान इन पाँच नियमों का पालन करना अनिवार्य है। यम के अन्तर्गत ब्रह्मचर्य पालन का अत्यधिक महत्त्व है। इसके बिना किसी धार्मिक, भौतिक, आध्यात्मिक एवं राष्ट्रियता का विकास गुरुकुलीय शिक्षा से ही सम्भव है।

त्यागी, तपस्वी आचार्य-

यह सब तभी सम्भव है, जब त्यागी, तपस्वी, चरित्रवान् आचार्य एवम् अध्यापक हों। वर्तमान समय में गुरुकुलों में आचार्यों का अभाव है। भौतिकता, बाह्य चकाचौंध तथा आर्थिक लिप्सा ने यहाँ भी अधिकार जमा लिया है। आचार्य शब्द का निर्वचन निरुक्तकार महर्षि यास्क ने जो किया है वह सर्वथा समीचीन है यथा-**आचार्यः कस्मात्? आचार्यः आचारं ग्राहयति, आचिनोति अर्थान् आचिनोति बुद्धिमिति** (निरु0112) इसमें आचार्य के समग्र रूप का दर्शन होता है। प्रथम निर्वचन से छात्रों के चारित्रिक विकास, दूसरे से वेद-वेदाङ्गों का समुचित ज्ञान प्राप्त कराने का सामर्थ्य, तीसरे से बौद्धिक विकास करने में सक्षम होना सिद्ध होता है। ये तीनों गुण जिसमें सम्भव हो, वही आचार्य होने के योग्य है। व्यक्तिगत एवं पारिवारिक लाभ तक सीमित रहने वाले अर्थ लोलुप, सामाजिकता, राष्ट्रियता, देशभक्ति आदि गुणों से रहित आचार्य एवम् अध्यापकों से गुरुकुल नहीं चल सकता। आचार्य एवम् अध्यापकों के हृदय में विद्यार्थियों के लिये अपनी सन्तान जैसी सद्भावना एवं स्नेह होना अत्यन्त आवश्यक है। समर्पित व्यक्ति ही आचार्य एवम् अध्यापक हो सकते हैं।

प्रबन्ध-समिति या व्यवस्थापिका

गुरुकुलों के सञ्चालन के लिये एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि प्रबन्ध-समिति या व्यवस्थापिका होनी चाहिए या नहीं? प्राचीन काल के गुरुकुलों तथा वर्तमान में भी आर्ष पाठविधि से चलने वाले गुरुकुलों की प्रबन्ध-समिति न थी और न है एकाध अपवाद को छोड़कर। प्राचीन काल में शिक्षा के एकमात्र केन्द्र गुरुकुल ही थे। वर्तमान समय में भी प्रबन्ध-समिति रहित गुरुकुलों का सञ्चालन सन्तोषजनक चल रहा है। वहाँ कोई विवाद नहीं है। जहाँ प्रबन्ध-समिति हैं वहाँ प्रबन्धकों और आचार्यों में विवाद बना रहता है। इसका

कारण यह है कि प्रबन्ध तन्त्र आचार्यों और अध्यापकों को नौकर तथा अपने को स्वामी समझते हैं। छात्रों के प्रवेश, निष्कासन तथा उन पर नियन्त्रण का भी अधिकार आचार्य को नहीं रहता। गुरुकुल का अपर नाम आचार्यकुल भी है, क्योंकि आचार्य की परम्परा शिष्यों के द्वारा चलती है ब्रह्मचारी के भरण पोषण तथा शिक्षण आदि का दायित्व आचार्य पर होता है। गुरुकुलीय शिक्षा में कुलपति एवं आचार्य ये दो महत्त्वपूर्ण पद हैं, कार्य क्षेत्र दोनों का पृथक्-पृथक् है। कुलपति का काम प्रबन्ध एवं प्रशासन का होता है, जबकि आचार्य का कार्य छात्रों के अध्ययन दिनचर्या एवं अध्यापकों के अध्यापन कार्य का देखभाल तथा नियन्त्रण करना है। यदि आचार्य के इस कार्य में कुलपति का हस्तक्षेप होता है तो दोनों में विवाद उत्पन्न हो जाता है, जिसका दुष्प्रभाव सम्पूर्ण व्यवस्था पर पड़ता है।

वर्तमान समय में मुख्याधिष्ठाता, सहायक मुख्याधिष्ठाता, अधिष्ठाता तथा संरक्षक का भी पद है। इन सबकी नियुक्ति का अधिकार प्रबन्ध-समिति को है, इनमें प्रथम तीन कुलवासियों के भोजन, निर्माणकार्य तथा प्रशासन आदि व्यवस्था से सम्बद्ध हैं। संरक्षक के कार्यों का निरीक्षण का अधिकार मुख्याधिष्ठाता, अन्य अधिष्ठाता तथा आचार्य को समान रूप से है। प्राचीन काल के गुरुकुल के समान वर्तमान समय में व्यवस्था रखी जा सकती है या नहीं? यह एक महत्त्वपूर्ण समस्या है। इसका निदान भी आवश्यक है। प्राचीन काल में ब्रह्मचारी भोजन के लिये भिक्षा लाया करते थे। रहने के लिये पर्णकुटियाँ होती थीं। वृक्षों के नीचे पठन-पाठन होता था। घर से कोई सम्पर्क नहीं होता था। माता-पिता का उन पर अधिकार नहीं रहता था। समय परिवर्तन के साथ व्यवहार में भी परिवर्तन आवश्यक होता है। उस समय भिक्षा एक व्यवसाय नहीं था। केवल ब्रह्मचारी और संन्यासी ही भोजन मात्र के लिये भिक्षा मांगते थे। तैयार भोजन की वस्तु ही भिक्षा में दी जाती थी। समाज में इसे हीन दृष्टि से नहीं देखा जाता था। घरों में जब तक ब्रह्मचारियों या संन्यासियों को भिक्षा नहीं दी जाती थी, तब तक कोई भोजन नहीं करता था। वर्तमान में इसे हीन दृष्टि से देखा जाता है। कार्य करने में समर्थ व्यक्ति भी आलस्य प्रमाद और निष्क्रियता के कारण भिक्षा मांगने लगे हैं। इसलिए समाज में इसे हीन दृष्टि से देखा जाने लगा। इस समय भिक्षा जैसी वृत्ति को अनिवार्य नहीं किया जा सकता। पेड़ों के नीचे पठन-पाठन भी अबाधगति से नहीं चलाया जा सकता। फूस की झोपड़ी की भी अनिवार्यता नहीं चलायी जा सकती। तब भवन, पुस्तकालय आदि की व्यवस्था के लिये धन संग्रह की व्यवस्था कौन करे। इसके निमित्त प्रबन्धतन्त्र की आवश्यकता स्वीकार की जाए क्या?

इस समस्या के समाधान के लिये प्रबन्धतन्त्र की आवश्यकता नहीं है। यह व्यवस्था कुलपति के अधीन होनी चाहिए। कुलपति अपनी सहायता के लिये आवश्यकतानुसार सहायकों की व्यवस्था कर लें। अब समस्या यह उत्पन्न होती है कि कुलपति की नियुक्ति कौन करे। इसके निमित्त विद्यासभा होनी चाहिए, जिसमें उच्चकोटि के त्यागी, तपस्वी विद्वान् रखे जाये। वही आचार्य एवं कुलपति की नियुक्ति करें। शेष सहायक एवं अध्यापक कुलपति तथा आचार्य के अधीन हों। सम्बद्ध सहायकों एवम् अध्यापकों के पृथक्करण के निमित्त

विद्या सभा की सहमति आवश्यक हो।

वेशभूषा-

सम्प्रति गुरुकुलों के लिये भी वेशभूषा के सम्बन्ध में विवाद है। कतिपय लोग यह कहने लगे हैं कि युग के अनुरूप वेशभूषा एवं पोशाक होनी चाहिए। कटिवस्त्र तथा धोती कुर्ता ठीक नहीं है। दूसरे लोगों से पिछड़ जायेंगे। पुराने दकियानूसी विचार को हटा देना चाहिए। ऐसा विचार रखने वाले यह भूल जाते हैं कि वेष मनुष्य की इच्छा का द्योतक है। अपने देश की सभ्यता, संस्कृति, भाषा और पोशाक होना चाहिए, अध्ययन-अध्यापन तप का जीवन है, भोग विलास का नहीं। गुरुकुलीय जीवन में कम अवस्था वाले छात्र लंगोट या कच्छा, कटिवस्त्र और कुर्ता पहनें। बड़ी अवस्था के छात्र आश्रम में कटिवस्त्र और कुर्ता तथा अध्ययन के समय विद्यालय में या बाहर जाते समय धोती कुर्ता पहनें। कुलपति, आचार्य, अध्यापक, अन्य अधिकारी एवं कर्मचारी भी धोती कुर्ता का व्यवहार करें। पैण्ट, बुश्शर्ट, टाई, पायजामा, अंगूठी आदि का प्रयोग वर्जित रखें। सभी का वस्त्र श्वेत हो। शिर पर शिखा (चोटी) रखें, बाल दूसरे लोगों जेसे न हों, छोटे और समान रूप से कटें हों। तेल साबुन का आवश्यकतानुसार कम प्रयोग करें। वेशभूषा से सादगी, स्वदेशीपन और स्वाभाविकता प्रकट हो।

दिनचर्या-

सभी गुरुकुलवासी प्रातः काल साढ़े तीन बजे उठ जायें। उठने के पश्चात् प्रार्थना, अध्ययन, एवं शौचादि क्रिया से निवृत्त होकर सभी अधिकारी-कुलपति, आचार्य, अध्यापकादि सहित ब्रह्मचारी प्रातः सायं दोनों वेला में सूर्योदय एवं सूर्यास्त के समय यज्ञशाला में सन्ध्योपासन तथा अग्निहोत्र प्रतिदिन करें। तदुपरान्त व्यायाम एवं अल्पाहार कके स्वाध्याय करें। प्रातः काल उठने के पश्चात् कुछ काल तक स्वाध्याय करें, आचार्य, अध्यापक तथा संरक्षक बीच-बीच में निरीक्षण करते रहें। मध्याह्न काल के पूर्व तथा पश्चात् भी आचार्य एवं अध्यापकों से विद्यालय में अध्ययन करें। मध्याह्न में भोजन के पश्चात् अल्पकाल तक विश्राम कर पुनः पुनः अध्ययन अध्यापन कार्य चार बजे तक चलाना चाहिए। उसके पश्चात् अल्पाहार करके, खेल, कूद, सैनिक शिक्षा श्रमदानादि का भी कार्य करें। तदनन्तर सन्ध्या, अग्निहोत्र, भोजन, स्वाध्याय, प्रार्थना एवं शयन करें। शयन का समय छः घण्टे तक अवश्य रहे। ब्रह्मचारीगण कुलपति, आचार्य अध्यापक एवं संरक्षक को प्रातः सायं प्रतिदिन प्रणाम अवश्य करें। भोजन, सादा, सात्त्विक तथा स्वास्थ्यकर होना चाहिए।

अध्ययन समाप्ति के पहले ब्रह्मचारियों को घर जाने, पत्र व्यवहार करने, समाचार पत्र पढ़ने, रेडियो सुनने तथा चलचित्र देखने का निषेध होना चाहिए। दूरदर्शन पर ऐतिहासिक, शिक्षाप्रद तथा देशभक्ति पूर्ण दृश्य आचार्य की अनुमति से अध्यापक एवं संरक्षक के निरीक्षण में देख सकते हैं।

पठन-पाठन विधि एवं परीक्षा-

गुरुकुलों के लिये यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा विवादास्पद प्रश्न है। वर्तमान समय में गुरुकुलों का पाठ्यक्रम भिन्न-भिन्न तथा असमीचीन है। उससे शारीरिक, आत्मिक, सामाजिक, आर्थिक, नैतिक तथा राष्ट्रिय विकास सम्भव नहीं है, देशभक्ति तथा राष्ट्रियता की भावना उत्पन्न होना कठिन है। सभी राज्यों के किसी न किसी विश्वविद्यालय की परीक्षा के अनुरूप पाठ्यक्रम है। अध्ययन करके निकलने पर दूसरे लोगों तथा उनके चरित्र में अन्तर नहीं दिखायी देता है। अन्य लोगों की भाँति नौकरी पाना तथा परिवार पोषणमात्र उद्देश्य रहता है। उत्तर प्रदेश के अधिकांश गुरुकुलों में संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी की परीक्षा दिलायी जाती है। उनमें वही पाठ्यक्रम है, जो एकाङ्गी है। सबसे पहले तो गुरुकुलों का अपना एक विश्वविद्यालय हो। जो सभी राज्य सरकारों एवं केन्द्रीय सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त हो। उसका पाठ्यक्रम गुरुकुलों के अनुरूप हो। यद्यपि गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग तथा शासन द्वारा मान्यता प्राप्त है। वहाँ के स्नातक राजकीय एवं राज्यसम्पोषित सेवा भी प्राप्त कर लेते हैं, लेकिन पाठ्यक्रम सर्वाङ्गीण नहीं है, साथ ही भौतिकता तथा पाश्चात्त्य सभ्यता का प्रभाव भी दिखायी देता है। पठन-पाठन की व्यवस्था भी सीमित विषयों तक ही है। इसमें आवश्यक संशोधन और परिवर्तन करके अधिक से अधिक विषयों का समावेश किया जाये। प्रथम श्रेणी से दशमी तक धार्मिक और नैतिक विषय सहित सभी विषयों का पठन-पाठन हो। संस्कृत विषय में प्रारम्भिक व्याकरण जिसका आधार अष्टाध्यायी-धातुपाठ आदि हो। अनुवाद वाक्य परिवर्तन, निबन्ध लेखन, हितोपदेश, पञ्चतन्त्र, नीतिशतक, चाणक्यनीति, श्रीमद्भगवद्गीता आदि पढ़ाये जायें। अष्टाध्यायी का कण्ठस्थीकरण तथा प्रथमावृत्ति दशम श्रेणी तक समाप्त हो जानी चाहिए।

एकादश श्रेणी से स्नातक स्तर तक व्याकरण, साहित्य, वेद, दर्शनशास्त्र तथा अन्य विषयों के भी पठन-पाठन की व्यवस्था होनी चाहिए। व्याकरण में अष्टाध्यायी की द्वितीयावृत्ति सम्पूर्ण महाभाष्य, साहित्य में अच्छे-अच्छे काव्य, नाटक अच्छे उदाहरण युक्त लक्षणग्रन्थ तथा दर्शनशास्त्र में ऋषिप्रणीत ग्रन्थों एवं भाष्यों के पठन-पाठन पर विशेष ध्यान दिया जाये। स्नातकोत्तर स्तर पर संस्कृत में वेद, व्याकरण, दर्शन एवं साहित्य सभी वर्ग निर्धारित हों। दर्शनशास्त्र में भारतीय एवं पाश्चात्त्य दोनों दर्शनों का सम्मिलित पाठ्यक्रम हो। अन्य विषयों की भी व्यवस्था होनी चाहिए।

महर्षि दयानन्द प्रतिपादित आर्षपाठविधि से भी पृथक् रूप में पठन-पाठन का प्रबन्ध हो। उसकी परीक्षा भी विश्वविद्यालय द्वारा ली जाये। अन्य परीक्षाओं की भाँति अन्य विश्वविद्यालयों एवं शासन द्वारा मान्यता भी दिलायी जाये। जिससे इस पद्धति से पठित छात्र भी संस्कृत वाङ्मय के अध्यापन कार्य में राज्य सम्पोषित संस्थाओं में स्थान प्राप्त कर सकें। प्राचीन राजनीतिशास्त्र का भी पाठ्यक्रम इसी प्रकार सञ्चालित किया जाए, जिससे अध्येताओं को शासन में भाग लेने का अवसर प्राप्त हो।

इन सबके अतिरिक्त क्रान्तिकारी आन्दोलनों, युद्धों का इतिहास तथा विकसित

सैन्यविज्ञान के पठन-पाठन, प्रतियोगी परीक्षाओं, प्राशासनिक सेवा की परीक्षाओं, सैनिकशिक्षा एवं कम्प्यूटर आदि के प्रशिक्षण की भी व्यवस्था की जानी चाहिए। तभी गुरुकुलीय शिक्षाप्रणाली का विकास और उसके द्वारा राष्ट्र तथा समाज का विकास सम्भव हो सकेगा। इन सभी पाठ्यक्रमों का सञ्चालन विश्वविद्यालय में ही सम्भव है। फिर भी प्रदर्शित समन्वित पाठविधि, आर्षपाठविधि, राजनीति, रणनीति, प्रशासन एवं सैनिकशिक्षा की व्यवस्था सभी गुरुकुलों तथा कन्या गुरुकुलों में होनी चाहिए। इस प्रकार की व्यवस्था एवम् अध्ययन काल तक छात्र-छात्राओं का माता-पिता सुहृद् तथा अभिभावकों से सम्बन्ध न रखने के लिये किसी प्रकार का भी शुल्क न लेना अनिवार्य है। इसके बिना लेख में प्रतिपादित व्यवस्था सम्भव नहीं है।

डॉ० सुमेधामित्र वेदालङ्कार

प्रयोजनमूलक हिन्दी की संकल्पना

प्रयोजनमूलक हिन्दी की अवधारणा भाषा-प्रयुक्ति की संकल्पना से जुड़ी है। सरकारी कार्यालय, व्यावसायिक संगठन, बैंक आदि में प्रयुक्त भाषा एक जैसी नहीं होती। किसी कार्यालय में काम करते समय हम जिस भाषा का प्रयोग करते हैं, वही घर या होटल में भोजन करते समय प्रयोग में नहीं ला सकते। उदाहरण के लिए, कार्यालय में कोई अधिकारी अपने सहायक से यह कह सकता है- 'सभी संगत कागजात नत्थी करके प्रारूप प्रस्तुत किया जाये।' लेकिन वह घर या होटल में यह नहीं कह सकता कि संगत सब्जियों के साथ भोजन प्रस्तुत किया जाये। यदि वह ऐसा कहेगा तो उपहास का पात्र बनेगा। इसका कारण यह है कि इन विभिन्न स्थानों के अपने-अपने संदर्भ हैं। अत एव इनमें भाषा के भिन्न-भिन्न रूप प्रयुक्त होते हैं।

भाषा-रूप की भिन्नता सर्वप्रथम शब्द-चयन के क्षेत्र में दिखाई देती है। यदि व्यावसायिक संगठनों में क्रयादेश, विक्रय, बट्टा, बीजक, साख विक्रय आदि शब्दों के प्रयोग प्राय: देखे जा सकते हैं। इसी प्रकार से सरकारी कार्यालयों में अवर सचिव, उपसचिव, स्पष्टीकरण आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। सरकारी कार्यालयों की भाषा में तटस्थता तथा औपचारिकता के गुण भी होते हैं। जब विभिन्न विषयों या कार्यक्षेत्रों में भाषा के किसी विशिष्ट रूप का प्रयोग होने लगता है, तब वह उस विषय या कार्यक्षेत्र की प्रयुक्ति कहलाती है।

प्रयुक्ति के तीन आयाम हैं- (1) वार्ता-क्षेत्र, (2) वार्ता-प्रकार तथा (3) वार्ता-शैली। वार्ता-क्षेत्र को विषय-क्षेत्र भी कहते हैं। मानव-व्यवहार के विभिन्न क्षेत्रों में प्रयुक्त भाषा को एक-दूसरे से अलगाने वाला सर्वप्रमुख लक्षण वार्ता/विषय क्षेत्र ही है। आँख-कान का दफ्तर खुला रखने वाले किसी भी व्यक्ति की निगाह में यह तथ्य आए बिना नहीं रहता कि सरकारी कार्यालयों, व्यावसायिक संगठनों एवं मंडियों, खेल-कूद के मैदानों, चिकित्सालयों/अस्पतालों, न्यायालयों/अदालतों आदि में एक जैसी शब्दावली का प्रयोग नहीं होता। इनमें प्रयुक्त कतिपय संज्ञाएँ, विशेषण एवम् क्रियापद एक दूसरे से सर्वथा भिन्न होते हैं। उदाहरणार्थ यदि सरकारी कार्यालयों में सरकारी/शासकीय पत्र, अर्धसरकारी पत्र, अधिसूचना, ज्ञापन, पावती, प्राधिकरण, सक्षम, अधिकारी, आरक्षण, शायिका आदि शब्दों का प्रयोग होता है तो व्यावसायिक संगठनों में बीजक, माल, गश्ती पत्र, साख पत्र, जमा पर्ची, खाता, बहीखाता आदि शब्द समय-समय पर प्रयुक्त होते रहते हैं। सूचकांक, आवक, जावक आदि शब्दों तथा तेजी की झाल होना, उठान कम होना, कीमतों में उछाल होना, भाव ऊँचा उठना, भाव पलटा खाना, बाजार नर्म/मुलायम होना आदि अभिव्यक्तियों में शब्दावली की भिन्नता सरलता से पहचानी जा सकती है। अदालतों में वादी, प्रतिवादी, वकील, मुंशी आदि शब्द प्रयुक्त होते हैं। क्रिकेट के खेल में खब्बू बल्लेबाज, हरफनमौला

खिलाड़ी, पगबाधा, छक्का, अविजित, नाबाद आदि शब्दों का प्रचलन है तो हॉकी, लॉन टेनिस, बास्केटबॉल, फुटबॉल आदि खेलों की अपनी-अपनी प्रयुक्तियाँ हैं।

प्रयुक्ति का दूसरा आयाम वार्ता-प्रकार है। इसे विधा की संज्ञा भी दी गयी है। वार्ता-प्रकार/विधा से अभिप्राय यह है कि विभिन्न कार्य-क्षेत्रों में मौखिक अथवा लिखित भाषा-रूपों में से किसका प्रयोग अधिक किया जाता है। सामान्यत: किसी भी कार्यक्षेत्र में केवल मौखिक या केवल लिखित रूप के प्रयोग से काम नहीं चलता। कार्यालयों में चाहे वे सरकारी हों या गैर सरकारी अधिकारियों को बहुत बार लिखित आदेश देने के साथ-साथ मौखिक अनुदेश भी देने पड़ते हैं। व्यवसायी को अपने कारोबार के सिललिले में दूसरे व्यवसायियों से समय-समय पर मौखिक संभाषण करना पड़ता हैं। अदालतों में वकील बहस के दौरान मौखिक भाषा का प्रयोग करता है। खेलों में कमेंट्री मौखिक भाषा में ही होती है। लेकिन यह भी सच है कि कार्यालय, व्यवसाय आदि विभिन्न कार्य-क्षेत्रों में मुख्यत: लिखित भाषा का ही प्रयोग किया जाता है। इसका कारण यह है कि प्रमाण प्रस्तुत करते समय लिखित प्रलेख/कागजात ही पेश किए जाते हैं।

भाषा के मौखिक तथा लिखित रूपों में पर्याप्त अन्तर होता है। मौखिक भाषा में प्राय: पूरे वाक्य नहीं बोले जाते। वक्ता अपने मन्तव्य को प्रभावी रूप देने के लिए कभी मुस्करा कर तो कभी भौहें चढ़ाकर भी काम लेता है। ये भाषेतर आयाम हैं। इसके विपरीत लिखित भाषा में इन भाषेतर आयामों का कोई स्थान नहीं होता। वह सदैव संयत होती है। उसमें नियमों-उपनियमों का हवाला रहता है। द्व्यर्थक शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाता तथा विरामचिह्नों के समुचित प्रयोग की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है, जिससे प्रेषिती अभिप्रेत अर्थ से भिन्न अर्थ न निकालने पाए। इतना ही नहीं कथ्य के प्रभावी संप्रेक्षण के लिए विभिन्न कार्य-क्षेत्रों के अपने-अपने रूप-विधान हैं। उदाहरण के लिए रेलगाड़ी में यात्रा-हेतु शायिका/सीट के आरक्षण के लिए भरा जाने वाला अनुरोध-पत्र हवाईजहाज में यात्रा करने के निमित्त भरे जाने वाले अनुरोध-पत्र से सर्वथा भिन्न प्रकार का है।

प्रयुक्ति का तीसरा आयाम वार्ता-शैली है। वार्ता-शैली से अभिप्राय यह है कि वक्ता तथा श्रोता अथवा विक्रेता और क्रेता पारस्परिक व्यवहार के समय किस भाषा-शैली का प्रयोग करते हैं। किसी वस्तु को बेचने के बाद जब विक्रेता, क्रेता को रसीद देता है, तब उस पर अंतिम पंक्ति में यह वाक्य मुद्रित होता है- बिका हुआ माल वापिस नहीं लिया जायेगा। भाषिक संरचना की दृष्टि से यह वाक्य कर्मवाच्य का है। इसी प्रकार के क्रेता द्वारा विक्रेता को आदेश-पत्र भेजते समय लिखा गया यह वाक्य, यदि माल आदेश के अनुरूप नहीं हुआ तो वह वापिस कर दिया जायेगा।' भी कर्मवाच्य का है। सरकारी कार्यालयों में किसी पत्र अथवा दस्तावेज के मिलने पर लिखा जाने वाला यह वाक्य 'पावती भेजी जा रही है' भी कर्मवाच्य का है। इससे यह स्पष्ट है कि प्रयोजनमूलक हिन्दी में अपने मन्तव्य को प्रभावी रूप में संप्रेषित करने के लिये कर्मवाच्य का प्रयोग किया जाता है।

भाषा-शैली वक्ता और श्रोता की सामाजिक प्रतिष्ठा से भी प्रभावित होती है। पद

की भिन्नता के कारण अधीनस्थ कर्मचारी अपने बेटे की आयु वाले अधिकारी से बातचीत करते समय आदरसूचक क्रियाएँ एवम् तदनुरूप सर्वनाम प्रयोग में लाता है। इसके विपरीत अधिकारी अपने पिता की आयु वाले अधीनस्थ कर्मचारी से बात करते समय आज्ञार्थक क्रियाओं एवम् तदनुरूप सर्वनाम का प्रयोग करता है। समान पद पर कार्यरत अधिकारियों की आपसी बातचीत की भाषा उनके निजी संबंधों की परिचायिका रहती है जबकि प्रगाढ़ मैत्री की स्थिति में वह अनौपचारिक हो जाती है।

प्रयोजनमूलक हिन्दी अपने प्रयोक्ता को यह भी बताती है कि विभिन्न प्रकार के पत्राचार के दौरान उसे भाषिक विधान के कौन-कौन से बिन्दुओं की ओर ध्यान देना चाहिये। शब्द-चयन तथा वाक्य-संरचना के दौरान विशेष सावधानी बरतनी चाहिये। अपने मन्तव्य को शिष्ट शैली में संप्रेषित करना चाहिये। द्व्यर्थक तथा अप्रचलित शब्दों का प्रयोग भूलकर भी नहीं करना चाहिये। इसका कारण यह है कि द्व्यर्थक तथा अप्रचलित शब्दों के प्रयोग से कथ्य में अस्पष्टता आती है और प्रेषिती के मन पर प्रेषक की बात का अपेक्षित प्रभाव नहीं पड़ता। अपने विचारों को शालीनतापूर्वक कहने का अर्थ ऐसे शब्दों का चयन करने से है, जो वक्ता की दृढ़ता को तो व्यक्त करते हों, किन्तु उन्हें पढ़कर कोई उसे घमण्डी, क्रोधी आदि की संज्ञा न देने पाये।

कार्य-क्षेत्र के अनुरूप प्रयुक्ति-प्रयोग क्षमता अर्जित करने के लिये यह आवश्यक है कि अध्येता अपने अध्ययन-काल के दौरान एतद्विषयक प्रशिक्षण प्राप्त करे। यह ठीक है कि कोई अध्येता अपने अध्ययन-काल के दौरान सभी कार्य-क्षेत्रों की प्रयुक्तियाँ नहीं सीख सकता। यह भी सच है कि औपचारिक शिक्षा समाप्त करने के बाद वह जिस कार्य-क्षेत्र में पदार्पण करेगा उस क्षेत्र की प्रयुक्तियाँ सहज रूप से सीखता चला जायेगा और धीरे-धीरे दक्षता प्राप्त कर लेगा। लेकिन इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि यदि कोई अध्येता अपने अध्ययन-काल के दौरान भाषा के प्रयुक्तिपरक रूप का सामान्य ज्ञान अर्जित कर लेता है तो उसे अपने भावी जीवन में भाषा-कौशल की इस दिशा में निपुणता प्राप्त करने में कम समय लगेगा।

डॉ० ओमप्रकाश सिंहल, रीडर,
श्री गुरु तेगबहादुर खालसा कॉलेज, विश्वविद्यालय परिसर, दिल्ली-110007

टंकारा के रूपकार-सत्यदेव विद्यालंकार

इस वर्ष के प्रारम्भिक महीनों में गुरुकुल कांगड़ी के पाँच कर्मठ और प्रतिभाशाली स्नातकों का निधन हो गया। ये सभी पुरानी पीढ़ी के 85 वर्ष से अधिक आयु के थे। इन्होंने **''कुर्वन्नेवेह कर्माणि''** के अनुसार लगभग पूर्ण आयु का उपभोग किया। सभी अन्तिम समय तक सामाजिक दायित्वों का वहन करते रहे।

इन दिवंगत स्नातको में सर्वाधिक आयु श्री सत्यदेव विद्यालंकार की थी, जिनका देहान्त 99 वर्ष की आयु में 24 फरवरी 2003 को मुम्बई में हुआ। सामाजिक चेतना से स्फूर्त बड़े व्यक्तियों के जिन कार्यों को स्मरण किया जाता है, सामान्यत: वे उनके जीवन के यौवन में किए गए कार्य होते हैं। परन्तु श्री सत्यदेव विद्यालंकार इसके अपवाद हैं। उन्होंने 60 वर्ष की आयु में अध्यापन के कार्य से सेवानिवृत्त होने के बाद अपने जीवन के उत्तरार्ध में महर्षि दयानन्द की जन्मस्थली टंकारा में 18 वर्ष तक निरन्तर जो कार्य किया वही उनकी कीर्ति को अजर अमर कर गया। महर्षि का जन्म स्थल टंकारा उनके जीवन का अभिन्न अंग हो गया है। टंकरा को उसका वर्तमान रूप देने में उनके द्वारा किया गया कार्य नींव के रूप में है। 18 वर्ष तक टंकारा का उनका जीवन साधना और तपस्या का जीवन था। टंकारा के आज के भव्यरूप के पीछे उनकी तथा उनकी सहधर्मिणी श्रीमती शान्ति देवी की निष्काम और सतत सेवा की गहरी छाप है।

श्री सत्यदेव जी का जन्म होशियापुर जिले के ग्राम सरहालाकलां में 7 अप्रैल 1904 को हुआ था। उनके पिता श्री ठाकुर दासजी आर्यसमाज की प्रारम्भिक पीढ़ी के महर्षि के भक्त थे। उन्होंने अपने पुत्र को 1913 में गुरुकुल काँगड़ी में पढ़ने के लिए भेजा। वहाँ 14 वर्ष रहकर सत्यदेव जी ने विद्यालंकार उपाधि प्राप्त की। श्री सत्यदेव जी का विवाह गुरुकुल के ही एक अन्य स्नातक वैदिक विद्वान प्रो0 सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार की बहन शान्ति देवी से हुआ। उनके दो पुत्र विनय और विनोद तथा एक पुत्री आशा देवी है।

अध्यापन कार्य-

स्नातक होने के बाद भी उन्होंने सरकारी सेवा में नौकरी के लिए आवश्यक उपाधियों के लिए शास्त्री तथा संस्कृत और हिन्दी में एम.ए. की उपाधियाँ प्राप्त की। उन्होंने 1930 से 1939 तक 10 वर्ष मिण्टगुमरी के डी.ए.वी. स्कूल में संस्कृत और हिन्दी का अध्यापन कार्य किया। उसके बाद 1930 से 1966 तक जालन्धर के डी.ए.वी. कालेज में प्राध्यापक रहे। वहीं से 60 वर्ष पूर्ण होने पर उस कालेज की ओर से भावभीनी विदाई दी गई। इसी अवधि में उन्होंने अंग्रेजी में प्लेटो तथा शंकराचार्य का एक तुलनात्मक अध्ययन नाम से उच्च दार्शनिक विचारों से पूर्ण पुस्तक लिखी। अध्यापक जीवन में गुरुकुल की

शिक्षा के अनुसार वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार में सक्रिय रहे। संस्कृत व्याकरण तथा दर्शन के उद्भट विद्वान् थे। संस्कृत में वे धारा प्रवाह भाषण दे सकते थे। उन्होंने कुछ समय जालन्धर के कैम्ब्रिज स्कूल तथा दिल्ली के हंसराज कालेज में भी संस्कृत के प्रोफेसर के रूप में काम किया।

टंकारा का बुलावा-

अध्ययन-अध्यापन श्री सत्यदेव जी की नियति में था। सब कामों से निवृत्त होकर ये जालन्धर में बस गए। वहाँ उन्होंने शान्ति-सदन नाम से एक मकान भी बनवाया। इसी बीच कन्या महाविद्यालय जालन्धर की आचार्या ने अपने विद्यालय के एम.ए. के छात्रों को हिन्दी, संस्कृत पढ़ाने के लिए प्रार्थना की। उन्होंने इसे स्वीकार कर लिया। पर उनकी नियति में टंकारा का सन्त बनना लिखा था।

इसी समय 1966 में डी.ए.वी प्रबन्ध-समिति के प्रधान जस्टिस श्री मेहरचन्द महाजन ने, जो टंकारा ट्रस्ट के भी प्रधान थे, सत्यदेव जी को दिल्ली बुलाया तथा उन्हें एक प्रकार से आदेश दिया कि वे टंकारा जाकर वहाँ कार्य करें। महाजन जी ने उनसे स्पष्ट कहा कि मैं तुम्हें एक कठिन और बड़े कार्य के लिए वहाँ भेज रहा हूँ तथा तुम्हें दृढ़ता पूर्वक वहाँ का कार्य सम्भालना है।

टंकारा आगमन-

श्री महाजन जी के आदेश पर श्री सत्यदेव विद्यालंकार 1966 में ही अपनी पत्नी के साथ अपना बिस्तर व अटैची स्वयं उठाये टंकारा पहुँच गए।

उस समय टंकारा में एक आयुर्वैदिक विद्यालय चलता था जिसका कोई नियम विधान नहीं था। छात्रों और अध्यापकों में अनुशासनहीनता चरम सीमा पर थी। महाजन जी का आदेश था कि इस विद्यालय को बन्द कर उसके स्थान पर उपदेशक विद्यालय स्थापित करना है। श्री सत्यदेव जी ने सारी स्थिति का बारीकी से अध्ययन कर एक साल बाद आयुर्वेद विद्यालय को बन्द करने का नोटिस लगा दिया। इस पर छात्रों और अध्यापकों में रोष स्वाभाविक था। उन्होंने हुड़दंग मचाने की कोशिश की। पर सत्यदेव जी ने दृढ़ता से उनका मुकाबला किया। वे उनकी मारने की धमकियों से नहीं डरे। अन्त में उनका उबाल ठण्डा पड़ गया। इसके तुरन्त बाद आयुर्वेद विद्यालय के द्वार पर अन्तर्राष्ट्रीय उपदेशक विद्यालय का बोर्ड लगा दिया गया और पंजाब एवं उत्तर प्रदेश के कुछ छात्रों के साथ उपदेशक विद्यालय में पठन-पाठन शुरू हो गया। यह सब काम एक महीने की अल्पावधि में ही हो गया। आज यह उपदेशक विद्यालय आर्यसमाज के विद्वान् उपदेशक तैयार करने का मुख्य केन्द्र है। इसका सारा श्रेय सत्यदेव जी की निष्ठा और कर्मठता को है।

१८ वर्ष की साधना-

पंजाब जैसे धन-धान्य पूर्ण और लहलाते खेतों की हरिताभ भूमि को छोड़कर टंकारा के रेगिस्तानी, जलहीन प्रदेश में निरन्तर 18 वर्ष तक रहकर कार्य करना किसी घोर तपस्या से कम नहीं था। इस अवधि में उन्होंने मानधन के रूप में मात्र रु0500 ही स्वीकार किए। एक बार ट्रस्ट ने यह मानधन बढ़ाकर रु0600 किया पर सत्यदेव जी ने यह कहकर इसे स्वीकार नहीं किया कि मेरा रु0500 में आराम से काम चल जाता है। यह थी एक सन्त के सात्त्विक मन की प्रवृत्ति और जीवन के उच्च संस्कारों का प्रभाव।

प्रारम्भ में पत्र-व्यवहार, गोशाला की देख रेख, छात्रों के भोजन की व्यवस्था निवास के रख-रखाव आदि का सब कार्य सत्यदेव जी स्वयं करते थे। इनको बुद्धदेव भाई के रूप में एक अच्छे कार्यकर्त्ता मिल गए थे।

श्री सत्यदेव जी के आचार्यत्व काल में ही श्री प्रकाशवीर शास्त्री के प्रयास से तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी टंकारा आईं। श्री सत्यदेव जी ने ही उनका स्वागत व उनको अभिनन्दनपत्र भेंट किया।

1983 में जब श्री सत्यदेव जी 80 वर्ष के हो गए थे, उन्होंने जीवन में विराम की इच्छा प्रकट की। इसका एक मुख्य कारण उनकी पत्नी के स्वास्थ्य में निरन्तर गिरावट थी। उन्होंने औपचारिक रूप से उपदेशक विद्यालय के आचार्य पद से तथा टंकारा ट्रस्ट के प्रबन्धन्यासी के पद से अवकाश ग्रहण कर लिया, फिर भी 1985 तक वे उपदेशक विद्यालय की नियमित रूप से देखभाल करते रहे। 1985 में वे टंकारा भूमि छोड़कर गुड़गाँव चले गए। वहीं पर उन की पत्नी का निधन हो गया। उनका मन उचाट हो गया और वे अपने पुत्र के पास मुम्बई चले गए। वहीं पर 26 फरवरी 2003 को 99 वर्ष की आयु में उनकी आत्मा इस नश्वर शरीर को छोड़कर परब्रह्म में विलीन हो गई।

टंकारा का शान्ति भोजनालय जो उनके पुत्रों ने अपनी माता की स्मृति में बनवाया है, उनकी पत्नी की सदा अन्नपूर्णा के रूप में याद दिलाता रहेगा।

डेमी नदी में अस्थि प्रवाह-

मरने के बाद की इच्छा व्यक्ति के सोच एवं लगन को अभिव्यक्त करती है। श्री सत्यदेव जी ने यह इच्छा प्रकट की थी कि उनकी अस्थियाँ टंकारा की ऋषि भूमि के साथ बहने वाली डेमी नदी में प्रवाहित की जायें।

उनकी इस अन्तिम इच्छा के अनुसार उनके दो पुत्र विनय और विनोद, बड़े पुत्र के बच्चे, अतुल और पूनम, श्री सत्यदेव जी के शिष्यों, श्री कमल शर्मा, श्री हरिओम् एवं श्री वासुदेव के साथ टंकारा गए। वहाँ डेमी नदी में उनकी अस्थियों का विसर्जन किया। इस प्रकार टंकारा के सन्त व ऋषि के परमभक्त के अन्तिम अवशेष टंकारा के पंचभूतों में एक रूप हो गए।

श्री दत्तात्रेय तिवारी

सद्विद्यासमुपासको गुरुकुलश्रीविश्वविद्यालयः

गङ्गापूतजले वयं प्रतिदिवा स्नात्वा समे भाग्यतः
तीर्थेऽस्मिन् प्रतिभागिनो बहुविधं पुण्यं हि संप्राप्नुम।
शास्त्राणामिह मन्थनाद् गुरुकुले ज्ञानामृतं चार्जितं
कार्तज्ञं प्रतिभागिभिः किल पुनश्चर्याकृते ज्ञाप्यते॥१॥
श्रद्धानन्दमहोदयैः सुगुणिभिर्वाग्देवपुत्रोपमै-
र्वेदानां परिरक्षकैः सुविहितोऽसौ विश्वविद्यालयः।
साङ्गं वेदचतुष्टयं गुरुकुले प्राध्यापकैः पाठ्यते
प्राच्यं भारतवाङ्मयं च निखिलं सम्पोष्यते यत्नतः॥२॥
शिष्टाचारपरम्परा सुमहती रराजते सर्वतो
न्याय्या वृत्तिरिहापि मान्यविदुषां कृत्येषु सन्दृश्यते।
आचार्या इह सात्त्विकाः सहृदया विद्यातपः साधकाः
शान्त्यै विश्वहिताय चापि वटुभिर्यज्ञाहुतिर्दीयते॥३॥
ग्रन्थाः संस्कृतवाङ्मयस्य विविधा आलोडिता मौलिका
व्याख्याभाष्ययुताश्च योग्यविबुधैः प्राकाश्यमापादिताः।
एवं भारतगौरवं प्रतनुते श्रीविश्वविद्यालयः
सौहार्दस्य कृते जनेषु कुरुते भव्यांश्च कार्यक्रमान्॥४॥
अध्यापनं नियमितं बहु शंसनीयं
कक्षासु ये विनयिनश्च पठन्ति शिष्याः।
आत्मीयता गुरुजने परिसेवकेषु
चैतद्विलोक्य बहुहर्षभरा वयं स्मः॥५॥
विद्वद्वरः संस्कृतशास्त्रविज्ञो वेदप्रकाशो बहुकर्मनिष्ठः।
ज्ञानेन यत्नेन परिश्रमेण संसेवते संस्कृतदेवभाषाम्॥६॥
वेदेष्वभिज्ञो विनयी बुधो यः प्रीणाति शिष्यानपि शुद्धवृत्या।
धन्योऽस्ति सो भारतभूषणोऽयं विस्मर्तुमेवं न हि शक्नुमस्तम्॥७॥
धन्यः कुलाधीशबुधः स्वतन्त्रकुमार एषोऽस्ति समप्रभावः।
निष्पक्षभावेन च सेवतेऽयं संस्थामिमां वर्धयति श्रमेण॥८॥
तीर्थं हरिद्वारमिदं पवित्रं भक्तिप्रवाहं कुरुते समन्तात्।

एते हि मुख्ये मनसाख्यचण्डीदेव्यौ नमामो वयमादरेण॥९॥
श्रीकाँगडीत्याख्यविशिष्टसंस्था वेदार्थविज्ञानसमेधिकेयम्।
प्रौढान् विशिष्टान् विदुषः प्रसूते प्रकृष्टशोधं कुरुते नवीनम्॥१०॥
धन्यं तीर्थमिदं श्रेष्ठं धन्यं गुरुकुलं तथा
श्रद्धानन्दो महाधन्यो धन्या तस्य परम्परा॥११॥

डॉ० धर्मदत्तचतुर्वेदी
पुनश्चर्याप्रतिभागी
केन्द्रीय-उच्चतिब्बतीशिक्षासंस्थानम्
मान्यविश्वविद्यालयः, सारनाथ-वाराणसी

आयुर्वेदो हि जीवनविज्ञानम्

वेदशब्दस्य विद्ज्ञाने धातोर्निष्पन्नः। यस्यार्थस्तु ज्ञानमिति। आयुर्वेदस्तु आयुः वेदः, अर्थात् आयुर्ज्ञानम्। अनेन ज्ञायते येन शास्त्रेण आयुर्ज्ञानमुपजायते तस्य शास्त्रस्य नामायुर्वेदः। ननु मनसि किं नाम आयुरिति जिज्ञासायामुच्यते यत् शरीर-इन्द्रिय-सत्त्व- आत्माप्रभृतीनां संयोगस्य नाम हि आयुः। एतत्तु जीवनं वर्तते आधुनिकशब्देषु आयुरेषः शाश्वत्-अनादिश्च। आयुर्वेदोऽथर्ववेदस्योपवेदोऽस्ति। शास्त्रमिदं मानवजीवनस्य पूर्णविकासस्योपदेयकं वर्तते। अतो न केवलमायुर्वेदो भिन्न-चिकित्सा-पद्धतिवत् एकाचिकित्सापद्धतिरपितु सम्पूर्णरूपे आयुः विज्ञानमिति।

आयुर्वेदः, धनुर्वेदः, गान्धर्ववेदः, अर्थवेदश्च ऋग्यजुस्सामाथर्वाख्यानां चतुर्णां वेदानां चत्वार उपवेदा वर्णितास्सन्ति। ऋग्वेदेन सहायुर्वेदस्य सम्बन्धोऽस्ति। सम्पूर्णभारतवर्षे चिकित्साशास्त्ररूपेणेत्थमायुर्वेदः प्राचीनतमात् कालादेव प्रख्यातो वर्तते।

कालक्रमानुसारेण परिज्ञायते यदायुर्वेदस्यादि उपदेष्टा ब्रह्माऽभूत्। पुनः शनैः शनैरायुर्वेदस्य प्रचारम् ऋषयो मर्त्यलोके प्रचारयामासुः। आयुर्वेदस्य प्रथमप्रचारकरूपे भरद्वाजनामक एव ऋषिरासीत्। न केवलं ऋग्वेदे अपितु अथर्ववेदेऽपि रोगाणां लक्षणं निदानं चिकित्सा चोपवर्णिता।

आयुर्वेदेऽस्मिन्-

आयुर्हिताहितं व्याधिर्निदानं शमनं तथा।

विद्यते यत्र विद्वद्भिः आयुर्वेदः स उच्यते॥

अर्थात् आयुर्हितस्य (पथ्य-आहार-विहारश्च) अहितस्य च (हानिकर-आहार-विहारश्च) रोगस्य निदानानां तथा व्याधीनां चिकित्साऽभिहिता। पुरुषार्थ-चतुष्टयस्य प्राप्तेर्मुख्यसाधनं शरीरमिति। अतस्तस्य सुरक्षाक्रमेणायुर्वेदः कथयति-

धर्मार्थकाममोक्षाणां शरीरं साधनं यतः।

सर्वकार्येष्वन्तरङ्गं शरीरस्य हि रक्षणम्॥

सारोऽयं वर्तते यत्-धर्म-अर्थ-काम-मोक्षादीनां प्राप्तेर्मुख्यं साधनं शरीरमिति। अनेन प्राचीनकविना महाकविकालिदासेनोक्तम्-

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।

अतः सम्पूर्णकार्येषु विशेषरूपे शरीरस्य रक्षा विधेया।

आयुर्वेदस्य प्रमुखोद्देश्यम्-

संसारे को वा मनुष्यः स्वमनसि दुःखमिच्छति। अर्थात् सर्वे सुखं इच्छन्ति। यतो हि

सुखीजीवनमुत्तमस्वास्थस्य निर्भरशीलं वर्तते। स्वस्थ-सुखीजीवनस्य कृते आवश्यकताऽस्ति यत् शरीरे कोऽपि विकारो न भवेत्। यद्यपि विकारो दृश्यते तर्हि शीघ्रं तस्य चिकित्सा करणीया। आयुर्वेदस्य परमलक्ष्यं स्वस्थमनुष्यस्य स्वास्थस्य रक्षणं तथा रोगाग्रस्तजनस्य विकारस्य प्रशमनम् इति। यथा च -

प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनञ्च।

च.सू.३०

किञ्च-

धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।
रोगास्तस्यापहर्त्तारः श्रेयसो जीवितस्य च॥

यदि वयमायुर्वेदस्य पृष्ठभागं पश्यामस्तर्हि तस्य विस्तृतक्षेत्रस्याङ्गानि ज्ञातुं पारयामः। कीथमहोदयानुसारेणार्थवेदे एवायुर्वेदस्यास्याष्टौ अङ्गानि वर्णितानि सन्ति। तानि चाङ्गानि-

1. शल्यचिकित्सा (Major Surgery)
2. शालक्यतन्त्रम् (Minor Surgery)
3. कायचिकित्सा (Healing of disease)
4. भूतविद्या (Demonology)
5. कौमारभृत्यम् (Children desease)
6. अगदतन्त्रम् (Toxology)
7. रसायनतन्त्रम् (Elixive)
8. वाजीकरणतन्त्रम् (Aphrodsias)

अपि च ऋग्वेदे आयुर्वेदप्रवर्तकानां दिवोदासभारद्वाजाश्विनीकुमारैः सह जलचिकित्सायाः, सूर्यरश्मिचिकित्साया अपि उल्लेख उपलभ्यते। उक्तञ्च-

अप्स्वन्तरामृतमप्सु भेषजमुत प्रशस्ते।
आसु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा॥
अग्निं च विश्वसम्भवमापश्च विश्वभेषजीः।
अपः प्रणीत भेषजं वरूथं तन्वे मम॥

आयुर्वेदस्य त्रिदोष-सिद्धान्तः-

सुश्रुताचार्येणोक्तम्-

विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा।
धारयन्ति जगद् देहं कफपित्तानिलास्तथा॥

अत्रायं सारः। आयुर्वेदस्त्रिदोषसिद्धान्तस्य त्रिपादिकाया उपरि (तिपाई) आधारितोऽस्ति। ते त्रिदोषास्तु-वात-पित्त-कफश्च। यदा एते साम्यावस्थायां स्थित्वा शरीरं धारयन्ति तदा ते त्रिधातुनामधेयाः सन्ति। पुनः यदा एते विषमावस्थायां स्थित्वा शरीरे रोगं समुत्पादयन्ति तदा दोषाः कथयन्ति। सर्वेषां रोगाणां मूलकारणं प्रकुपितो दोषो हि वर्तते। यतो ह्युच्यते-मलिनीकरणान्मलाः, तथा च-दूषणाद् दोषाः देहधारणाद् धातव इत्यभिधीयते।

अत एवायुर्वेदः शरीरस्यास्य मूलोपादान-कारणरूपं वातं, पित्तं, कफञ्च (त्रिधातु) स्वीकरोति। अत्रायुर्वेददृष्ट्या सूक्ष्मविचारणीयं वर्तते यत्-भिन्ना चिकित्सा- पद्धतिवद् आयुर्वेदे केवलं रोगरहितशरीरत्वात् कमपि मनुष्यं पूर्णस्वस्थरूपे नैव मन्यते। स्वस्थाः ते मनुष्या अभिधीयन्ते ये वात-पित्त-कफ-त्रिदोषरहिता भवन्ति। यथा चोक्तम्-

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते॥
आयुर्वेदीय-चिकित्सायाः मूलसिद्धान्तोऽयं वर्तते।

स्वास्थस्योपस्तम्भत्रयम्-

आयुर्वेदानुसारेण मनुष्यजीवनस्य स्वास्थस्योपस्तम्भत्रयं वर्तत इति। तद्यथा-

(1) आहारः (2) स्वप्नः (3) ब्रह्मचर्यः संयमो वा।

यदि मनुष्यः स्वदैनन्दिनजीवने उपस्तम्भत्रयस्यास्य सम्यक्तया पालयिष्यति। यदि वयं महर्षिचरकस्यैनं श्लोकमनुसरणं कुर्मस्तर्हि नीरोगस्य मार्गं नूनं प्राप्स्यामः। यथा-

धी-धृति-स्मृतिविभ्रष्टः कार्यं कर्म करोति यः।
प्रज्ञापराधं तं विद्यात् सर्वदोषप्रकोपणम्॥

आयुर्वेदो हि रोगाणां समूलनाशको नास्त्यत्र कोऽपि सन्देहः। यतो हि-

प्रयोगः शमयेद् व्याधिं योऽन्यमन्यमुदीरयेत्।
नाऽसौ विशुद्धः शुद्धस्तु शमयेद् यो न कोपयेत्॥

आयुर्वेदस्य प्राचीनाः संहिताः-

चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता, भेलसंहिता च। परवर्तिन्य आयुर्वेदसंहिताः-
वाग्भट्ट, माधवकर, चक्रपाणिदत्त, मिल्हण, नागार्जुन, वोपदेवप्रभृतयः।

आयुर्वेदे चिकित्सापद्धतिद्वयम्:-

वैदिककाले विविधानाम् औषधीनामपि ज्ञानं विकसितमासीदिति ऋङ्मन्त्रैरेव परिज्ञायते। तद्यथा-

याः पुत्रिनीर्या अफला अपुष्पा याश्च पुष्पिणीः।
बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः॥

आयुर्वेदे रोगाणामुपचारस्य हेतोर्ब्राह्मिशैविचिकित्साद्वयस्य प्रक्रिया निर्देशिता। ब्राह्मीचिकित्सा अर्थात् काष्ठौषधचिकित्सा साधारणतः सर्वे तां जड़ी-बूटीचिकित्सारूपे जानन्ति। अतीवाश्चर्यस्य कारणं यदायुर्वेदस्यैयं चिकित्सा एषा निरूपद्रवचिकित्सा- पद्धतिर्वर्तते यत्र रुग्णस्य प्रतिक्रियां विना हि रोगस्य ह्रासो भवति।

शैविचिकित्सायां पारद-गन्धक-हरताल-संखिया-मैनसिलप्रभृतीनां खनिजद्रव्य-सुवर्ण-रौप्य-ताम्र-बंग-लोहादीनां तथा हीरा-पन्ना-मोती-पुष्परागादीनां रत्नानां चोपयोगो भवति। पारदः तथा पारदसंयोगे अधिकं हि 'रस' इत्युच्यते। आधुनिकौषधवदस्य समाप्ततिथिर्नैव वर्तते। काष्ठौषधिषु शीघ्रं लाभदायिनीयं ब्रह्मचिकित्सा। तद्यथा।

अल्पमात्रोपयोगित्वादरुचेरप्रसङ्गतः।
क्षिप्रं च फलदायित्वादौषधिभ्योऽधिको रसः॥

अनया विमर्शदृष्ट्याऽऽयुर्वेदः केवलं चिकित्साशास्त्रं नहि अपितु एकान्तरूपे जीवनविज्ञानमिति।

डॉ० ब्रजेन्द्रकुमारसिंहदेवः
प्राध्यापकः, गुरुकुलमहाविद्यालयः,
ज्वालापुरम्, हरिद्वारम्।

कविता की सम्प्रेषणीयता और जनभाषा

पाश्चात्य और आधुनिक भारतीय काव्य समीक्षकों ने कविता को भाषा से पृथक् न मानते हुए उसे भाषा की एक विधा के रूप में स्वीकार कर लिया है। जब कविता और भाषा के आपसी सम्बन्ध पर इतनी जोर-शोर से चर्चाएँ चल रही हों, तब एक और विचारणीय प्रश्न यह उठता है कि आखिर कविता की भाषा हो कैसी? अभिजात वर्ग से जुड़ी लच्छेदार संस्कृतनिष्ठ जड़ाऊ भाषा या सपाट बयान वाली सरल-सुबोध भाषा। पहली विशिष्ट वर्ग तक सीमित है। जबकि दूसरी जन-जन की चेतना तक फैली है।

साहित्य की प्रत्येक विधा का अपना अलग स्वभाव होता है। जाहिर है कविता का स्वभाव नाटक, कथा और निबन्ध से भिन्न है। यद्यपि यह उक्ति प्रचलित है कि **'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति'** तथापि यदि गम्भीरता से विचार करें तो तो हम पायेंगे कि कविता की कसौटी तो कविता ही है, सुन्दर और स्वस्थ कविता। नकली कवियों के कारखाने में आज असली कविता गुम सी हो गयी है। आवश्यकता इस बात की है कि कविता को सम्प्रेषणीय बनाये रक्खा जाये।

सही मायने में देखा जाए तो कविता कम बोलती है, बल्कि इशारे ज्यादा करती है। नामवर जी का तो यहाँ तक कहना है कि **'कविता इशारा ही होती है।'** साहित्य की यह विधा स्पन्दनमयी होती है। सच्ची कविता स्याही से नहीं वरन् खूंन और आँसू से रची जाती है। इसी कारण हृदय संवाद का दरजा उसे मिलता है। वह अपनी निजता में अद्वितीय होती है। उसके धर्मगुण अपने होते हैं। इसी कारण उसके प्रतिमान भी साहित्य की अन्य विधाओं के प्रतिमानों से अलग होते हैं।

दूसरी तरफ हम देखें कि कवि कर्म की सबसे बड़ी समस्या साधारणीकरण और सम्प्रेषण की समस्या है। मुक्तिबोध ने कहा है-**कविकर्म कोई सहज कार्य नहीं है।** जीवन की जटिलता और वैविध्य को अभिव्यक्त करने के लिये कवि भाषा को किसी हद तक गूढ़ अलौकिक अथवा दीक्षा द्वारा बोधगम्य बनाने का प्रयास करता है। किन्तु यह उसकी शक्ति नहीं विवशता है।

कविता को एक ओर रूढ़ काव्यशास्त्र से जोड़ने की दलील दी जाती है और दूसरी ओर उसे **भाषा में आदमी होने की तमीज** या **सार्थक वक्तव्य** का रूप दिया जा रहा है। यदि कविता मात्र वाग्विलास है तब तो और बात है, वरना आम आदमी के लिये यदि उसकी थोड़ी बहुत सार्थकता या उपादेयता है तो कविता को हर दृष्टि से जनभाषा के करीब आना होगा। जनभाषा से जुड़े बिना जनोपयोगी साहित्य का निर्माण असम्भव है। यदि अपने को मात्र तथाकथित जनकवि कहलाना है तो चालू मुहावरों के प्रयोग मात्र से काम चल जाएगा। यदि जन जागरण के महत्कार्य को सम्पादित करना है तो जनभांषा के अलावा कोई दूसरा रास्ता नहीं है। यह फैशन नहीं, आवश्यकता है। युग का तकाजा है।

अज्ञेय की दृष्टि में नयी भाषा की सार्थकता मानवीय सम्बन्धों की पहिचान है।

हम सब भिखारी हैं

भाषा की शक्ति

यही नहीं कि
सम्प्रेषण होता है
शक्ति इसमें है कि उसके सहारे
पहचान का वह सम्बन्ध बनता है जिसमें
सम्प्रेषण सार्थक होता है।

नामवर जी ने अपनी पुस्तक **इतिहास और आलोचना** में लिखा है **शब्दों में अर्थ जीवन भरता है, जीवन ही वह अर्थसत्ता है जिससे शब्द हरे हैं। सुबह और शाम की किरणें बरसे हुए खाली बादल में महज रंगसाजी कर सकती हैं इन्हें जीवन-दान तो ताल-तलैया, नदी-नद और सागर वाली धरती ही दे सकती है। शब्द भावों के आवेग से चालित होकर नया अर्थ ध्वनित करते हैं। पहले से ही उनमें नया चमत्कार भरकर भावों की धारा में नहीं झोका जाता।** आज शमशेर, मुक्तिबोध और अज्ञेय की कविताओं को समझने वाले पाठक कितने हैं? पाठकों की बात छोड़िये, अनेक कवि भी इन कवियों के बिम्बों, प्रतीकों, मिथकों और फैंटेसीयों के भँवर जाल में उलझकर रह जाते हैं और कविता का मर्म नहीं पकड़ पाते। शायद इनका असम्प्रेषणीय होना ही इनको बड़ा 'कवि' बनाता है। लेकिन मेरा विनम्र अनुरोध है **कि कविता वह बड़ी होती है जो सहज और सरल होते हुए भी जीवन की जटिलताओं को अभिव्यक्त करती हो,** निश्चय ही इस आधार पर नागार्जुन, त्रिलोचन और केदार बड़े कवि सिद्ध होते हैं। आज की नयी पीढ़ी के कवि अरुण कमल से लेकर बद्री नारायण तक का जुड़ाव सीधा इसी परम्परा से देखा जा सकता है। इसका कारण यह है कि जब कविता के नये अन्य औजार मसलन बिम्ब, प्रतीक, मिथक और फैंटेसी से मुक्त होकर नयी पीढ़ी का कवि सरल सहज भाषा का प्रयोग करता है, उपकरणों की इस कमी को वह शब्दों की कमानी तान कर पूरा करने का प्रयास करता है।

कविता को अनिवार्यत: लोकधर्मिता और जीवनधर्मिता से जोड़कर ही सम्प्रेष्य बनाया जा सकता है। इसके लिये कवियों की भाषा को लोकभाषा के पास जाना होगा। लोकभाषा में ही वह शक्ति निहित है जो कविता को न केवल सम्प्रेष्य बल्कि सम्वेदनशील भी बनाने की क्षमता रखती है। आज यह जरूरी समझा जा रहा है कि भाषा आज की सृजन-प्रक्रिया में बाहरी यन्त्र न हो, माध्यम न हो, निरा रूपवाद न हो। भाषा हवा के कणों में एक भूरी सी चमक हो जिसे कोई भी महसूस कर सके।

एक सधे कवि के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि वह जनता की आशाओं आकांक्षाओं को पूरी हमदर्दी से समझने की कोशिश करे तथा भदेश या गँवई रूप को नि:संकोच स्वीकार कर अपने विचारों को बेलाग होकर जनता के सामने रक्खे। केदारनाथ अग्रवाल और नागार्जुन की कविताओं में यह गँवईपन तथा धूमिल की कविताओं में **'भाषा का भदेसपन'** बहुत साफ उभरकर आया है। कवि निराला का **'नये पत्ते'** में जनभाषा का प्रयोग अभिनन्दनीय है। प्रगतिशील कवि नागार्जुन की कविताओं में ग्रामीण सोंधी महक पाठक को बरबस आकर्षित किए बिना नहीं रहती। उनकी **'खुरदरे पैर'** रिक्शा चालक के यथार्थ स्वरूप का बोध कराती है:-

खूब गये
दूधिया निगाहों में
फटी बिवाइयों वाले
खुरदरे पैर
धंस गये
कुसुम-कोमल मन में
गट्ठल घट्टों वाले पैर
दे रहे थे गति
रगड़ विहीन ठूँठ पेडलों में।

बोलचाल की भाषा में लिखी यह कविता अपने प्रभाव को समग्र रूप में अभिव्यंजित करने में सक्षम है।

कवि धूमिल स्वयं घोषणा करते हैं कि मैं **'भाषा का भदेस हूँ'** शहरी और ग्रामीण जनभाषा को समन्विति उनकी कविताओं की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। इन्होंने काव्य भाषा को नये तेवर प्रदान किये हैं। सपाट किन्तु सार्थक व्यंजक अंदाजे-बयाँ धूमिल के पास हैं। **'संसद से सड़क तक'** और **'कल सुनना मुझे'** की प्राय: सभी कविताएं उनके गँवई भाषा के रुझान को व्यक्त करने वाली हैं। इन्होंने जनभाषा को सूक्तियाँ प्रदान की। धूमिल का कथन है कि **'जनता एक भेड़ है जो दूसरों की ठंड के लिये अपनी पीठ पर ऊन की फसल ढो रही है।' 'संसद तेल की वह घानी है जिसमें आधा तेल और आधा पानी है।'** वस्तुत: भाषिक प्रयोग की दृष्टि से धूमिल बेमिसाल हैं। काशीनाथ सिंह ने ठीक ही कहा है कि-**धूमिल ने कविता को मुँहफट और खुर्राट जबान दी।**

रघुवीर सहाय की रचनाओं के संग्रह **'हंसो हंसो जल्दी हंसो'** में सरल किन्तु जटिल संवेदना के भाषा प्रयोग को देखा जा सकता है। इनके अंदाजेबयां पर रामस्वरूप चतुर्वेदी लिखते हैं- **'यही वजह है कि कविता चाहे प्रकृति की हो, चाहे प्रेम की, बाजार की या संसद की रघुवीर सहाय के विधान आंगन, शयनकक्ष, बैठक और सड़क के लिये उन्हें विशेष सज्जा या असज्जा नहीं करनी पड़ती।'** बोलचाल की भाषा में सजी-संवरी कविता आम आदमी की जिन्दगी के अति निकट है। उसकी समझ के बाहर भी नहीं। कविता उपदेश नहीं होती, एक रचना होती है। वह सही अर्थ में **'वागर्था इव सम्पृक्तौ'** है। वस्तु और रूप की अविच्छिन्न अभिव्यक्ति है, साथ ही लोक के गहरे स्तर पर जुड़ी रहती है।

इसीलिये कविता जीवन की जरूरत है। कविता खुली आँख का सपना है। उसकी आँखें पारदर्शी होती हैं। परत दर परत के खोलने की क्षमता रखती है। कविता समय के सवालों से आँखें नहीं चुराती। इस बात की पुष्टि **'डर और खिलाड़ी'** कविता करती है:-

शेर से डरते-डरते। आदमी

सियार से डरने लगा
बीमार होकर। भीतर ही भीतर। मरने लगा
आदमी होने के संज्ञान से
इंकार करने लगा। 'डर' केदारनाथ अग्रवाल
जिन्दगी मरा हुआ चूहा नहीं है
जिसे मुख में दबाकर
बिल्ली की तरह हर शाम गुजर जाने
और मुंडेर पर
कुछ खूंन के दाग छोड़ जायें।
'खिलाड़ी' सर्वेश्वरदयाल

निष्कर्षतः कविता का स्वभाव शब्द और कर्म की सन्धि पर दूब की तरह उगे रहना है। मनुष्य और पृथ्वी को कविता की यह हरियाली ही बचा सकती है।

प्रो. ज्ञानचन्द रावल
हिन्दी-विभाग
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार.

प्राचीन भारतीय लोकतन्त्र वर्त्तमान परिप्रेक्ष्य में

वर्तमान में सारे देश में दो ही विषय चर्चा में हैं। एक क्रिकेट और दूसरा चुनाव। प्रत्येक व्यक्ति जो मतदाता है या नहीं है, इस चुनाव के विषय में पर्याप्त रुचि ले रहा है। सामान्य लोगों में यह मान्यता है कि लोकतन्त्र पाश्चात्य जगत् की देन है। परन्तु इस विषय पर जब हमने अपने प्राचीनतम साहित्य पर दृष्टिपात किया तो कुछ अद्भुत चीजें सामने आयीं। राजा कौन हो? क्या वो विदेशी हो सकता है या नहीं? उसकी योग्यता क्या होनी चाहिये? (यहाँ योग्यता से तात्पर्य उसकी शैक्षिक उपाधियों से नहीं है) कौन-कौन लोग राजा बनने का स्वप्न ले सकते हैं? और यदि चुनाव हों तो उसका क्या तरीका होना चाहिये? मतपत्र कैसे हों? और कौन मतदाता हो? इन सब चीजों को जब हमने अपने अतीत में झाँककर देखा तो एक बहुत ही मनोरम दृश्य उभर कर सामने आता है।

अथर्ववेद के पुरुहन्मा ऋषि इन्द्र देवता के मन्त्रों में उन्हें **'राजा चर्षणीनाम्'**[१] अर्थात् मनुष्यों का राजा कहकर सम्बोधित करते हैं। ऋषि विश्वामित्र **'विश्पति'**[२] शब्द का प्रयोग करते हैं, इसी को प्रगाथ ऋषि **'त्वं राजा जनानाम्'** कहकर इसे और अधिक स्पष्ट कर देते हैं। सामान्य रूप से इन्द्र के सभी गुण राजा के गुण माने जाते हैं। राजा के सम्पूर्ण गुणों को यदि हम एक वाक्य में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि प्रजा को पूर्ण विश्वसनीय आश्रय दे सकना ही राजा का सबसे महान् गुण है। इसी बात को यजुर्वेद ने कहा कि **'हे राजन्! तू सम्पूर्ण प्रजाओं के समीपवर्त्ती होकर उनकी रक्षा कर। समस्त प्रजाएँ तुम पर आश्रित हों।**[३]'

आचार्य चाणक्य का मत है कि 'सर्वभूत हित में अनुरक्त रहने वाला, सभी का हित साधन करने वाला ही सम्पूर्ण पृथ्वी का भोग कर सकता है।[४]' अर्थात् प्रजा के सुख में सुख प्रजा के हित में हित समझना राजा का सर्वश्रेष्ठ गुण है। इससे पृथक् राजा का कोई भी प्रिय या हितकर कार्य नहीं है।

संसद् तथा सैन्य का पूर्ण विश्वास प्राप्त करना राजा के लिये बहुत आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य भी है। उस विश्वास से ही राजा में भी आत्मविश्वास का उद्भव होता है। श्रीमती इन्दिरा गाँधी के शासनकाल में बंगलादेश की विजय इसका ज्वलन्त उदाहरण है। यह कार्यसिद्धि परस्पर अविश्वास से कभी भी सम्भव नहीं है। राजा बनने का मूल आधार है प्रजा का प्रिय होना, प्रजा का वही हो सकता है जो लोकानुरञ्जन में समर्थ हो। जो अनुरञ्जन कर सकता है, वही मतदाताओं के मत प्राप्त कर सकता है। अथर्वा ऋषि राजा शब्द का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि **वह अनुरञ्जनकर्त्ता है, तभी राजा बना है।**[५] महाकवि कालिदास रघुवंश में इसका अनुमोदन करते हुए कहते हैं:-**'यथा**

---

१ अथर्व०२०.१२.१६.

२ अथर्व०२०.६.३.

३ यजु०६.२६.

४ कौटिलीय अर्थशास्त्र-१.५.१८.

५ अथर्व०१५.८.१.

प्रह्लादनात् चन्द्रः राजा प्रकृतिरञ्जनात्।[६] महाभारत में व्यास कहते हैं **कि प्रजाओं के रञ्जन से ही राजा बनता है।**[७] अथर्ववेद में प्रार्थना है कि **'मैं सभी का अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी वर्णों का प्रिय हो जाऊँ।**[८]**'**

प्राचीन साहित्य में राजा के पद पर सदा क्षत्रिय वर्ग के पुरुष का ही चयन किया जाता है। अन्य वर्णों को उनके गुणकर्मानुसार अन्य कार्य दिये जा सकते हैं, परन्तु राजा का पद दिये जाने का कोई भी विवरण वेदों में नहीं मिलता। यह भी बहुत महत्त्वपूर्ण है कि राजा पद का प्रत्याशी या राजा उसी क्षेत्र एवं उसमें रहने वाली प्रजाओं में से हो अर्थात् उसका देशवासी होना और नागरिक होना अनिवार्य शर्त नहीं है। अथर्ववेद का **'अन्तरभूः'**[९] इसका पुष्ट प्रमाण है।

राजा पद के एकाधिक प्रत्याशी होते थे। वर्तमानकाल की भाँति वैदिककाल में भी विजय के लिये प्रत्याशी नाना प्रकार के प्रयास किया करते थे। जिनमें अधिकतर प्रजा या मतदाताओं से मत (पर्णमणि) प्रदान करने की प्रार्थना की जाती है।

चयन की दो पद्धतियाँ प्रचलित थीं। पहली वह जिसमें सम्पूर्ण प्रजाएँ प्रत्यक्ष रूप से राजा का वरण करती हैं कि **'हे राजन्! राज्य प्रबन्ध चलाने के लिये राष्ट्र की सभी दिशाओं में रहने वाली पाँचों प्रकार की मत देने वाली प्रजाएँ तुम्हारा वरण करें।'**[१०] चयन के साथ ही प्रजाएँ उस राजा से विशेष आशाएँ भी रखती थीं। राजा का चयन करने वाली इस प्रजा में बहुत छोटे स्तर के पुरुषों से लेकर मनीषियों तक सभी स्तर के लोग विद्यमान होते थे। राजा पद का प्रत्याशी सभी से अपने को वरण करने की प्रार्थना करता है। इन लोगों में धीवर, रथकार, बढ़ई, लुहार आदि कर्मकार तथा तत्त्वचिन्तक और मननशील पुरुष भी होते हैं। चयन की दूसरी पद्धति वह है **जिसमें कुछ निश्चित लोग ही राजा का चयन करते हैं। इसीलिये ये राजकृत कहे जाते हैं, ये अपने समूहों के मुखिया हो सकते हैं।**[११]

दोनों ही पद्धतियों में गुप्तरूप से मतपत्रों द्वारा राजा का चयन होता है। यह पर्णमणि रूप मतपत्र सम्भवतः किसी लकड़ी के बने बक्स में गुप्तरूप से डाले जाते हैं।[१२] राजकृत लोग राष्ट्र का अभिवर्ग कहलाते हैं और राजा की स्थिति इस अभिवर्ग में सर्वोत्तम होती है। इस पद्धति को हम वर्त्तमान में सांसदों तथा विधानसभा सदस्यों आदि के द्वारा राष्ट्रपति पद के चुनाव में देखते हैं, जिसमें सामान्य जनता राजा का चयन न करके उस अभिवर्ग के माध्यम से अपना राजा चुनती है।

---

६ रघुवंश-४.१२.

७ महा०शान्ति०५९.१२५. रञ्जिताश्च प्रजास्सर्वा तेन राजेति शब्द्यते।

८ अथर्व०१९.६२.१.

९ अथर्व०६.८७.१.

१० अथर्व०३.४.२.

११ अथर्व०३.५.७.

१२ अथर्व०३.५.३.

जैसे आजकल मतपत्र सामान्य कागज का टुकड़ा नहीं है, इसी प्रकार पूर्वकाल में की पर्णमणि या वर्णमणि एक प्रकार का राजचिह्न होता था। जिस अधिकार पत्र के द्वारा सारे राष्ट्र का भाग्य अभिलेख तैयार किया जाता है।

चयन के उपरान्त वह राज्य के सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित होता है। **'विशि राजा प्रतिष्ठितः'**[१३] इसी बात को ऋग्वेद ने **'विशो न राजानं वृणाना'**[१४] सम्बोधित किया है।

यह चयनपद्धति उत्तर वैदिक काल में भी बहुत समय तक प्रचलित रही। रामायण में राम का राज्याभिषेक करने के लिये महाराज दशरथ को सम्पूर्ण प्रजा का प्रतिनिधित्व करने वाली सभा को आमन्त्रित करना पड़ा। जब राजा दशरथ सभाभवन में विराजमान हो गये, तब शेष लोकसम्मत राजाओं ने प्रवेश किया और वे **'नियतनृप'** पदानुसार अपने-अपने आसनों पर बैठे।[१५] **'राजानो लोकसम्मताः'** ही वैदिक काल में **'राजकृतः राजानः'** हैं। इसी प्रकार महाराज दशरथ की मृत्यु होने पर भी सभी **'राजकर्तारः'** सभागृह में एकत्र हुए। रामायण के अयोध्याकाण्ड में कहा गया है कि ब्राह्मण (सम्भवतः मन्त्री परिषद्), सेना के प्रधान अधिकारी, नगरों के प्रतिनिधिजन, जनपदों के प्रतिनिधि इकट्ठे होकर मन्त्रणा करने के लिये समान बुद्धिवाले होकर बोले।[१६] इससे यह स्पष्ट है कि ये **'राजानो लोकसम्मताः'** या **'राजानः राजकृताः'** वस्तुतः प्रतिनिधि सभा ही थी। यही अथर्व के (राज्य के पाँचों प्रकार के निवासी, जो सभी दिशाओं में रहने वाले हैं) इसका ही प्रतिबिम्ब है।[१७]

चयन के बाद विधिवत् घोषणा की जाती है कि इस महान् पराक्रम युक्त पद पर अधिकार के लिये सर्वोच्च स्थान के लिये, जनराज्य के इन्द्ररूप पद के लिये देवों ने इस पुरुष को निर्विरोध या अद्वितीय रूप से चुना है। अमुक पुरुष और अमुक नारी के पुत्र अमुक को इस प्रजा के राजा पद पर नियुक्त किया गया है। यह हम ब्राह्मणों (ब्राह्मण परिषद्) का भी राजा हो गया है। इसीलिये यह राजा सबके द्वारा नमन करने के योग्य है।

सबसे श्रेष्ठ स्थान पर चुने जाने पर अग्रगण्य होने पर भी वह जनता का प्रथम सेवक है। जनता की सेवा पर ही उसकी स्थिति निर्भर है। **वह प्रजा की इच्छाओं के पीछे चलने वाला है।**[१८] प्रजा की इच्छा के विपरीत उसकी कोई इच्छा नहीं है। प्रजा के सुख के अतिरिक्त उसका कोई सुख नहीं। **'वह जनता रूपी स्वामी, राजारूपी सेवक को कर रूपवृत्ति प्रदान करती है, जो**

---

१३ यजु०२०.९.

१४ ऋ०१०.१२४.८.

१५ रामायण, अयोध्याकाण्ड-४६.४७. राजानो लोकसम्मताः। ....निषेदुर्नियता नृपाः।

१६ रामायण, अयोध्याकाण्ड-२.१६.२०. ब्राह्मणा बलमुख्याश्च पौरजनापदा हि सः। समेत्य ते मन्त्रयितुं समतागतबुद्धयः॥

१७ अथर्व०३.४.२.

१८ अथर्व०५.९.१.

राजा प्रजा से प्राप्त करता है। जिसके कारण वह प्रजा का दास्य स्वीकार करता है।"[१९]

वर्त्तमान काल की इस चयन प्रक्रिया को हम प्राचीन भारत में स्पष्ट रूप से घटित होता हुआ देखते हैं। आज भी देश का राष्ट्रपति देश का प्रथम नागरिक कहलाता है। यह विश्व का प्राचीनतम लोकतन्त्र आज भी कुछ विकृतियों के साथ ही सही इस देश में चल रहा है। जो हमारे प्राचीन ऋषियों के उस महान् चिन्तन का परिणाम है, जिसमें प्रजा की इच्छा सर्वोपरि है। यह राष्ट्र नित्य नूतन उन्नति करता रहे। यह ही इच्छा प्राचीनतम ऋषियों की रही होगी।

डॉ. शिवानी विद्यालङ्कार
भारतीयम् ज्ञानलोक कालोनी
कनखल
हरिद्वार.

---

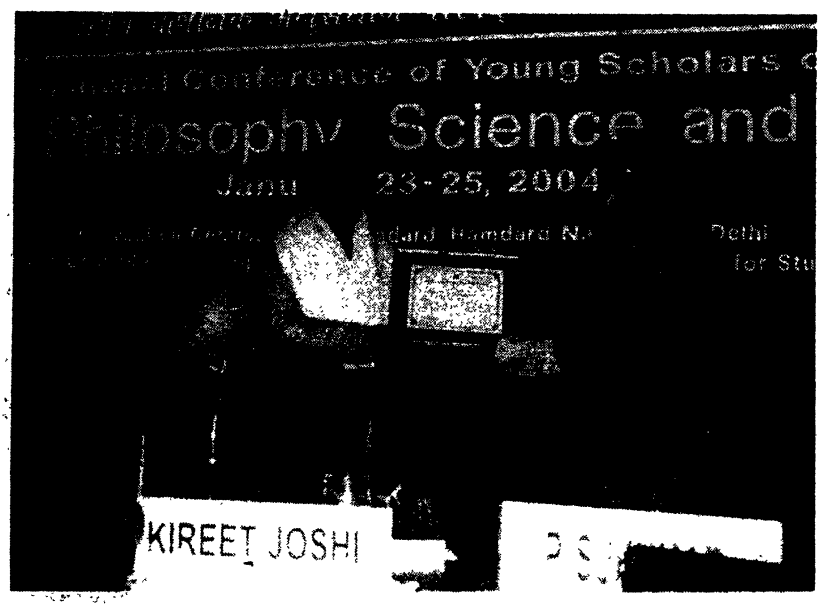
१९ शुक्रनीति-१.१८८. स्वभागभृत्या दास्यत्वे प्रजानां च नृपः कृतः। ब्रह्मणा स्वामिरूपस्तु पालनार्थं हि सर्वदा।

दार्शनिक विद्वान् डॉ. जयदेव वेदालङ्कार राष्ट्रिय पुरस्कार से सम्मानित

२५ जनवरी दिल्ली भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् नई दिल्ली ने (भारत सरकार का संस्थान की ओर से) भारतीय दर्शन, विज्ञान और संस्कृति पर युवा अध्येताओं के राष्ट्रिय अधिवेशन के समापन समारोह के अवसर पर गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार के दार्शनिक विद्वान् डॉ. जयदेव वेदालङ्कार को उत्तम ग्रन्थ वर्ष २००१ के राष्ट्रिय पुरस्कार से सम्मानित किया है। डॉ. वेदालङ्कार को यह पुरस्कार उनके ग्रन्थ **"भारतीयदर्शनः तत्त्व एवं ज्ञानमीमांसा के मौलिक सम्प्रत्यय"** के लिये प्रदान किया गया है। इस ग्रन्थ में उन्होंने २८ अध्यायों में भारतीय दर्शन की समस्त समस्याओं पर विस्तारपूर्वक शोधपरक उच्च अध्ययन प्रतिपादित किया है। डॉ. वेदालङ्कार को यह अवार्ड डॉ. डी.पी. चट्टोपाध्याय अध्यक्ष सभ्यताओं का शोधकेन्द्र सी०एस०सी० नई दिल्ली द्वारा प्रदान किया गया है। पुरस्कार के रूप में एक प्रशस्तिपत्र एवं पचास हजार रुपये की धनराशि प्रदान की गयी है।

इससे पूर्व भी डॉ. वेदालङ्कार को उनके ग्रन्थ १. वैदिकदर्शन, २. भारतीय दर्शन की समस्यायें, ३. उपनिषदों का तत्त्वज्ञान, ४. भारतीय दर्शन में प्रमाण इत्यादि ग्रन्थों पर वेदवेदाङ्ग पुरस्कार, आर्यसाहित्य पुरस्कार, विशेष पुरस्कार और स्वामी प्रणवानन्द राष्ट्रिय दर्शन पुरस्कार आदि पुरस्कार प्राप्त हो चुके हैं।

सीनियर फैलोशिप–उसके साथ ही डॉ. जयदेव वेदालङ्कार को आई०सी०आर० नई दिल्ली की ओर से दो वर्ष के लिये सीनियर फैलोशिप उनके "वैदिक ज्ञानमीमांसा" बृहद् प्रोजेक्ट पर १ जनवरी २००४ से प्रदान की गयी है।



गुरुकुल विश्वविद्यालय में अग्निहोत्र पर शोधगोष्ठी

महर्षि दयानन्द भारत के ही नहीं, अपितु विश्व के एकमात्र ऐसे विचारक हुए हैं, जिन्होंने वेद और विज्ञान को एक साथ देखा। उनकी दृष्टि में विज्ञान का ही एक युक्तिसङ्गत नाम **यज्ञ** है। इसका कारण यह रहा है कि वेद की दृष्टि में यज्ञ भुवन की नाभि है-**'अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।' (ऋ०१.१६४.३५)** महर्षि के प्रतिपादित सिद्धान्तों को आधार बनाकर सर्वमेध यज्ञ करने वाले आचार्य मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) ने इसी उद्देश्य से गुरुकुल विश्वविद्यालय की स्थापना की थी। वर्त्तमान में कुलपति पद पर अभिषिक्त प्रो० स्वतन्त्र कुमार जी इस विश्वविद्यालय को स्वामी श्रद्धानन्द के सपनों के अनुरूप प्राच्य और पाश्चात्य विद्या के सङ्गमस्थल के रूप में विकसित कर रहे हैं। इसी उद्देश्य को लक्ष्य में रखकर प्रो० वेदप्रकाश शास्त्री, आचार्य एवं उपकुलपति, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, के ब्रह्मत्व में दिनांक-12-03-2004 से 14-03-2004 तक वैदिक अग्निहोत्र और ब्रह्माण्ड विषय पर इस वाग्यज्ञ का आयोजन किया गया।

श्रद्धेय कुलपति जी की अध्यक्षता में आयोजित उक्त संगोष्ठी में कैप्टन देवरत्न जी आर्य, प्रधान सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा, दिल्ली, मुख्य अतिथि तथा डॉ. गणेशदत्त शर्मा, पूर्व प्राचार्य एल.आर. पी.जी. कालेज, साहिबाबाद, मुख्य वक्ता थे। श्रद्धेय आचार्य एवं उपकुलपति प्रो. वेदप्रकाश शास्त्री ने अपने उद्बोधन से उक्त संगोष्ठी की दिशा को स्पष्ट किया। इनके अतिरिक्त पूर्व कुलपति माननीय श्री सुभाष विद्यालंकार, डॉ. महेश विद्यालंकार, डॉ. सच्चिदानन्द शास्त्री, श्री विजय ढोंढियाल, अपरसचिव मुख्यमन्त्री, देहरादून आदि अनेक गणमान्य वक्ताओं ने अपने-अपने शोधपत्र प्रस्तुत करते हुए विषय की महत्ता को प्रतिपादित किया।

उक्त राष्ट्रीय संगोष्ठी की मुख्य विशेषता यह रही कि इसमें वेद और विज्ञान के विद्वानों ने एक साथ मिलकर अग्निहोत्र पर गम्भीर विचार-विवेचन किया। यह क्रम चिन्तन तक सीमित न रहकर कुछ आगे बढ़ता हुआ दिखायी दिया। गुरुकुल विश्वविद्यालय के विज्ञान संकाय के सर्वश्री डॉ. देवराज खन्ना, रीडर, जन्तु एवं पर्यावरण विज्ञान विभाग, तथा डॉ. नवनीत, रीडर, वनस्पति एवं सूक्ष्मजीवविज्ञान विभाग, दोनों ने मिलकर **'यज्ञ से मधुमेह चिकित्सा'** विषय पर किये जा रहे शोध निष्कर्षों को प्रस्तुत किया। यद्यपि यह प्रक्रिया अभी अपने प्रारम्भिक चरण में है, तथापि इसके परिणाम काफी उत्साहवर्धक रहे हैं। जितने भी रोगियों ने एक मास तक इस यज्ञ में भाग लिया, उन सभी का शुगर लेबल जो लगभग ३८० था, वह घटकर १५५ के आसपास आ गया। आचार्य जी के ब्रह्मत्व में चलने वाले उक्त यज्ञ में श्रद्धेय कुलपति जी न केवल नियमित रूप से आते रहे, बल्कि उन्होंने अन्य विश्वविद्यालय के कर्मचारियों को आने की प्रेरणा भी प्रदान की। उक्त संगोष्ठी में उपर्युक्त के अतिरिक्त स्थानीय एवं अन्यस्थानीय लगभग ७० प्रतिभागी विद्वानों ने अपने-अपने शोधपत्र प्रस्तुत किये।

किसी भी कार्यक्रम को सफल बनाने के लिये धन की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। जब महाशय धर्मपाल जी, महाशयाँ दी हट्टी, दिल्ली, को यह विदित हुआ कि गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, में इस प्रकार की संगोष्ठी का आयोजन किया जा रहा है तो उन्होंने उक्त



डॉ. महेश विद्यालंकार, प्रो. वेद प्रकाश शास्त्री, आचार्य एवं उपकुलपति, कैप्टन श्री देवरत्न आर्य, प्रधान सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली, श्री सुभाष विद्यालंकार, पूर्व कुलपति गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, प्रो. स्वतंत्र कुमार, कुलपति गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, प्रो. ए.के. चौपड़ा, कुलसचिव गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, डॉ. गणेशदत्त शर्मा, पूर्व प्राचार्य एल.आर.पी.जी. कॉलेज, साहिबाबाद



गुरुकुल शोध भारती पत्रिका के प्रथम अंक का विमोचन करते हुए डॉ. महेश विद्यालंकार, कैप्टन श्री देवरत्न आर्य, महाशय धर्मपाल जी महाशयाँ दी हट्टी दिल्ली, प्रो. स्वतंत्र कुमार कुलपति

कार्यक्रम के उद्घाटनसत्र के भोजन के व्यय को प्रदान करने के लिये सहर्ष अपने हाथ आगे बढ़ा दिये। अपने व्यस्त कार्यक्रम में से समय मिलकर वे इस कार्यक्रम में उपस्थित हुए और कार्यक्रम की सफलता का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि उन्होंने साल में होने वाली इस प्रकार की चार गोष्ठियों के व्ययभार को वहन करने की घोषणा की।

उक्त राष्ट्रिय संगोष्ठी के अवसर पर प्राच्यविद्या के क्षेत्र में अग्रणी गुरुकुल विश्वविद्यालय में प्राच्यविद्या की एक ऐसी शोध-पत्रिका की कमी पिछले काफी समय से अनुभव की जा रही थी, जो विश्वविद्यालय में होने वाले शोधकार्यों को मुखरित कर सके, विद्वत्समाज के समक्ष प्रस्तुत कर सके। इससे जहाँ महर्षि दयानन्द के सिद्धान्तों की व्यावहारिक धरातल पर स्वीकार्यता बढ़ेगी, वहीं विश्वविद्यालयस्तरीय शोधकार्यों से इस विश्वविद्यालय की उज्ज्वल आभा और भी अधिक उज्ज्वल होकर प्रतिभासित हो सकेगी। साथ ही इसके संस्थापकों ने जिस स्वप्न को आधार बनाकर इस विश्वविद्यालय की स्थापना की थी, उसको साकार करने में कुछ न कुछ मदद अवश्य मिलेगी।

इस शोधगोष्ठी को सफल बनाने में प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, वैदिक शोधसंस्थान, ने संयोजक के रूप में, डॉ. देवराज खन्ना, रीडर, जन्तु एवं पर्यावरण विज्ञान विभाग, डॉ. दिनेशचन्द्र शास्त्री, रीडर, वेद-विभाग, तथा डॉ. नवनीत, रीडर, वनस्पति एवं सूक्ष्मजीवविज्ञान विभाग, ने सहसंयोजक के रूप में कार्य किया।

प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, वैदिक शोध-संस्थान
गुरुकुलकाँगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार.

यज्ञ से मधुमेह चिकित्सा पर डॉ. खन्ना के व्याख्यान

आज का युग विज्ञान का युग है। कोई भी व्यक्ति तब तक किसी धार्मिक अनुष्ठान का महत्त्व स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं होता, जब तक वह विज्ञान की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। **'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'** इस श्रुतिवाक्य का उपदेश देने वाले मनीषी भी प्रतिदिन यज्ञ नहीं करते। परन्तु प्रसन्नता का विषय है कि श्रद्धेय कुलपति जी एवं उपकुलपति जी, जो कि स्वयं प्रतिदिन यज्ञ करने वाले हैं, की प्रेरणा से इस विश्वविद्यालय में यज्ञ पर शोधकार्य की रूपरेखा तैयार की गयी और सौभाग्य से उसके परिणाम भी सार्थक आये। दिनांक-12-03-2004 से 14-03-2004 तक वैदिक अग्निहोत्र और ब्रह्माण्ड विषय आयोजित की गयी शोधगोष्ठी में पधारे कतिपय विद्वान् जब अपने गृहजनपद पहुँचे तो उन्होंने अपने महाविद्यालय एवं विश्वविद्यालय के अधिकारियों को उक्त शोध से अवगत कराया। वे लोग जो अब तक अग्निहोत्र को कर्मकाण्ड से अधिक नहीं मानते थे, उन्होंने **'यज्ञ से मधुमेह चिकित्सा'** विषय पर कार्य करने वाले विज्ञान संकाय के डॉ. देवराज खन्ना, रीडर, जन्तु एवं पर्यावरण विज्ञान विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, को इन्दौर विश्वविद्यालय एवं उससे सम्बद्ध होलकर विज्ञान महाविद्यालय, इन्दौर एवं धार में उक्त विषय पर ६ अप्रैल २००४ से ९ अप्रैल २००४ तक व्याख्यान देने के लिये आमन्त्रित किया। इनके व्याख्यानों की चर्चा न केवल समाचारपत्र-पत्रिकाओं में हुई, अपितु स्थानीय टी.वी. चैनलों ने भी इनके व्याख्यानों का विस्तार से उल्लेख किया। डॉ. खन्ना के व्याख्यानों की सफलता का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि अनेक स्थानों पर इनके द्वारा बताया गयी सामग्री से प्रतिदिन यज्ञ करने वाले संगठन आगे आये। बाद में डॉ. खन्ना ने भोपाल में भी एक प्रेस कान्फ्रेंस को सम्बोधित किया।

प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, वैदिक शोध-संस्थान
गुरुकुलकाँगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार.

दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय, हिसार, में दीक्षान्त समारोह

दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय, हिसार, में विगत वर्षों की भाँति इस वर्ष भी दीक्षान्त समारोह बड़ी धूमधाम के साथ मनाया गया। समारोह की अध्यक्षता माननीया श्रीमती सुमित्रा महाजन सांसद राज्यसभा ने की। प्रो. स्वतन्त्र कुमार, कुलपति गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, इस कार्यक्रम में मुख्य अतिथि थे। कुलपति महोदय ने नवस्नातक ब्रह्मचारियों को अपने सम्बोधन में आर्यसमाज के उज्ज्वल अतीत का दिग्दर्शन कराते हुए **'वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है'** इस महान् वाक्य की पुष्टि अनेक वेदमन्त्रों से से की और कहा कि आज सारा विश्व भारत की पुरातन वैदिक संस्कृति की ओर आशा भरी दृष्टि से देख रहा है। ब्रह्मचारियो! उन लोगों तक आपने अपनी आर्यसभ्यता को पहुँचाना है।

नवस्नातकों को आशीर्वाद प्रदान करने हेतु पधारे प्रो. वेदप्रकाश शास्त्री, आचार्य एवं उपकुलपति, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार, ने कहा कि गुरुकुल प्रणाली एवं डी.ए.वी. प्रणाली दोनों धारओं का उद्गम स्थान एक ही है, अब समय आगया है- दोनों धाराओं के संगम का। डी.ए.वी. प्रतीक है-भौतिक विद्या का और गुरुकुल प्रतीक-है अध्यात्मविद्या का। दोनों के मिलन से ही सम्पूर्णता बना करती है।

समारोह में डी.ए.वी. के प्रतिनिधि के रूप में पधारे श्री हरवंशलाल कपूर, सहमन्त्री आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली ने ब्राह्म महाविद्यालय, हिसार, के इतिहास को बताते हुए बताया कि इस संस्था ने आर्य जगत् को सैकड़ों सुयोग्य धर्म प्रचारक, पुरोहित, लेखक, विद्वान्, उपदेशक तथा अध्यापक प्रदान किये हैं।



दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय के सर्वोत्तम छात्र कुणाल किशोर को विद्यावाचस्पति की उपाधि देते हुए गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय कुलपति प्रो. स्वतंत्र कुमार, आचार्य एवं उपकुलपति वेदप्रकाश शास्त्री, श्री हरबंशलाल कपूर संस्था के प्राचार्य डॉ. उमेश यादव उपस्थित हैं

संस्था के प्राचार्य डॉ. उमेश यादव ने नव स्नातक ब्रह्मचारियों को **स्वाध्यान्मा प्रमदः** आदि वैदिक वाक्यों के माध्यम से विदाई का उपदेश दिया और गुरुदक्षिणा के रूप में स्नातकों से यह आशा व्यक्त की कि आप सभी वैदिक सभ्यता और संस्कृति का प्रचार जनमानस तक अवश्य पहुँचायेंगे।

उपस्थित श्रोताओं, ब्राह्म महाविद्यालय के प्राचार्य, अध्यापक एवं संस्था के पदाधिकारियों ने गुरुकुल काँगड़ी से अलंकार उपाधि की सम्बद्धता हेतु माँग की। श्री हरवंशलाल कपूर तथा डी.ए.वी. के प्रधान श्री ज्ञानप्रकाश चोपड़ा ने भी इस माँग का अनुमोदन किया। गुरुकुल काँगड़ी से पधारे श्रद्धेय कुलपति जी एवं उपकुलपति जी ने पूरा विश्वास दिलाया कि इस माँग पर अवश्य ही सहानुभूतिपूर्वक विचार किया जायेगा।

इस दीक्षान्त समारोह में पं. रामस्वरूप शास्त्री, अधिष्ठाता गुरुकुल आर्यनगर, पं. विश्वमित्र शास्त्री पुरोहित आर्य समाज हिसार, पत्रकार श्री प्रतापसिंह शास्त्री, श्री रणजीत सिंह आर्य आदि स्थानीय विचारकों ने अपने विचार प्रकट किये।

प्रस्तुति

डॉ. प्रमोद शास्त्री
दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय
हिसार

A Report
National Conference on Biotechnology

The national Conference on Biotechnology for Health, Agriculture and Industry was jointly organized by the Department of Botany and Microbiology, Gurukul Kangri University, Hardwar and The Academy of Plant Sciences of India, Muzaffarnagar on September 19, 20, 2003, at Gurukul Kangri University, Hardwar.

The Conference was inaugurated in the morning of 19th Sept. 2003 by Prof. Swatanter Kumar, Hon'ble Vice-Chancellor who kindled the lamp. The M.Sc. (Microbiology) students of Kanya Gurukul Mahavidyalaya, Hardwar, who were trained by Dr.(Mrs) Padma Singh, Head, Department of Microbiology, KGM, Hardwar; recited 'Manglacharn' and the 'Welcome song'. This was followed by a welcome song by two students of DAV Postgraduate College, Muzaffarnagar. The welcome address and report of the APSI was presented by Dr. S. K. Gupta, Secretary, APSI and Formerly Principal and Head of botany Department DAV (PG)College, Muzffarnagar. Hon'ble Vice-Chancellor awarded APSI Gold medals to Dr. Brahm Singh, Formerly Director DRDO, Prof. P. Kaushik of Department of Botany and Microbiology, Gurukul Kangri University, Hardwar, Dr. Dinesh Kumar, Professor of Botany and Director, Mass Communication in Science & Technology, University of Lucknow, Lucknow; Dr. Bijendra Singh, Assistant Professor of Horticulture, CSA University of Agriculture Science & Technology, Kanpur; Dr. P.P. Parihar, Department of Botany, JNV University, Jodhpur; Dr. P.K. Gupta, Technical Officer, Karnataka Agro. Chemicals (Multiplex), Ghaziabad, and Dr. P. Girdhar, Scientist, Plant Cell Biotechnology Division, Central Food Technological Research Institute, Mysore. Inaugural address was delivered by Prof. Swantanter Kumar, Hon'ble Vice Chancellor. The others who addressed the inaugural session were Prof. Ved Prakash Shastri, Pro-Vice-Chancellor, Prof. S.L. Singh, Principal College of Science, Gurukul Kangri University, Hardwar; Prof. B.D. Kaushik, Head, Division of Microbiology, I.A.R.I., New Delhi; and Shri Jagdish Bhatiya, Chairman, Municipal Board, Muzaffarnagar. The stage was conducted by Prof. P. Kaushik and vote of thanks was given by Dr. (Mrs.) Padma Singh .

This was followed by 'National Anthem' and 'Shanti Path'. After lunch in Senate Hall the technical sessions started exactly at 2 P.M. with a key note lecture entitled " Role of Microbial consortia in supplementing N & P in rice- wheat cropping system" by Prof. B.D. Kaushik, Head of Microbiology Division of I.A.R.I., New Delhi. Second invited lecture was by Prof. Dinesh Kumar of Lucknow University, Lucknow, on " Indian Gymnosperms- A polynological approach" and the third invited lecture was by Dr. A.K.Jain of O.N.G.C., Dehradun on " Application of Biotechnology in Petroleum exploration".

The Chair persons for the session were Dr. Brahma Singh, Formerly Director DRDO Delhi, now at Pantnagar, Prof. B. R. Pandit of Ecology Division of Bhavnagar University, Bhavnagar (Gujrat) and the Rapportier was Dr. Bhasker Punjani of Talod (Gujrat).

On 19.09.03 the second technical session was chaired by Prof. Ganesh Kumar and the Rapportier was Dr.(Mrs.) Padma Singh of KGM, Hardwar. The papers in the session were by Dr. Pradeep Parihar of J.N.V. University, Jodhpur, on " Antibacterial – activity of Actinoptenis radiata (swarts) Link, by Dr. R.S.K. Tiwari of Indira Gandhi Krishi Vishwavidyalaya, Bilaspur (C.G.) on In vitro efficacy of new fungicides, by Dr. D. M. Panchbhai of department of Horticulture Dr. P.D.K. Vidyapeeth, Akola on " Tissue culture

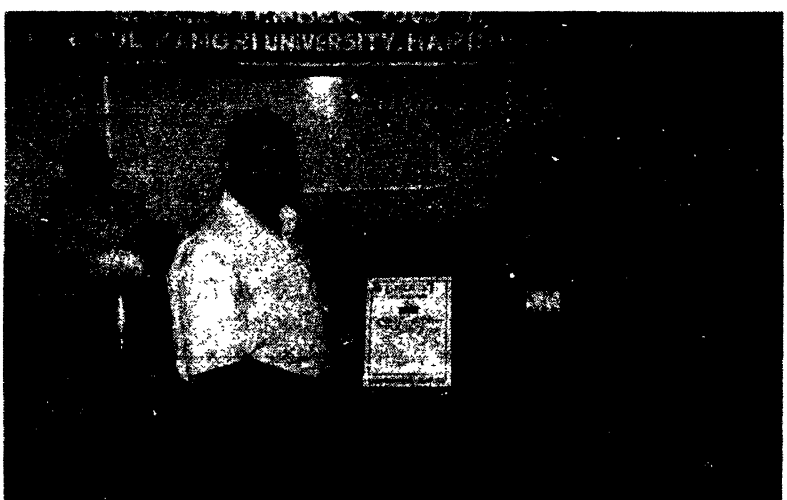
studies in Momordica dioica, by Dr. P. Girdhar of CFTR, Mysore on " Somatic embryogenesis in Coffea arabica and Coffea canephora" by Dr. P. K. Gupta of Allahabad on " TTS, Acidity and Ascorbic acid pigment in tomato". After paper presentation, the delegates enjoyed the glimpse of the holy Ganges, one of the mightiest rivers of the world.

On September 20, 2003 .The Chief guest was Dr. Mahavir Agarwal, Registrar, GKV, The conference started with a kevnote lecture by Prof. B. R. Pandit on "Harvesting rain water" follcwed by some papers. This session was chaired by Dr. A. K. Bhargawa and Dr. S. R. Dhawan.

2nd technical session on 20-09-03 was chaired by Dr. K. M. Patel, Principal, Municipal college of Art and Science, Mehsana (Gujrat). Co-chair person was Dr. S. B. Gupta and Rapportires were Dr. G. R. Patel and D. M. Panchbhai. Dr.(Mrs.) Padma Singh presented a paper on 'Nosocomial Infections' which was applauded by the Chairman. There were many papers, including those by the research students of KGM, Hardwar. Over 100 delegates participated form all over the country.

The medal for the best papeı went to Mr. Nishant Rai, a Ph.D. student of Gurukul Kangri University working at I.V.R.I., Bareilly and that for the best poster went to Miss Reshu of M. S. College, Saharanpur.

Dr. S. K. Gupta
Secretary, APSI
(Formerly Principal &
Head, Department of Botany
DAV Post Graduate College)
657/6 South Civil Lines, Muzaffarnagar



Prof. Swatantra Kumar, Vice-Chancellor, Prof. Purushotam Kaushik APSI Gold Medal and The Citation for his outstanding research contributions. On the dais Prof. S.L. Singh, Principal College of Science and Mr. Bhatia, Chairman, Municipal Board, Muzaffarnagar.

निबन्ध भेजने वाले विद्वानों से निवेदन

❖ गुरुकुल-पत्रिका गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय की त्रैमासिक शोध-पत्रिका है। यह प्रमुख रूप से वेद, वैदिक एवं लौकिक साहित्य, धर्म, दर्शन, संस्कृति, योग, आयुर्वेद तथा अन्य प्राच्य साहित्य से सम्बन्धित शोध परक आलेखों को प्रकाशित करने के लिये कृतसङ्कल्प है।

❖ गुरुकुल पत्रिका में केवल शोध-निबन्ध ही प्रकाशित किये जायेंगे। जिन लेखों में शोध-प्रविधि का प्रयोग नहीं किया गया है, उनको प्रकाशित करना सम्भव नहीं होगा।

❖ शोध-निबन्ध में लेखक का निष्कर्ष सुसङ्गत, प्रमाण एवं तथ्यों पर आधारित तथा परम्परा से पोषित होना चाहिये।

❖ अन्धविश्वास को बढ़ावा देने वाले निबन्धों को प्रकाशित करना सम्भव नहीं हो सकेगा, अतः अन्धविश्वास का समर्थन करने वाले निबन्ध कृपया न भेजें।

❖ सभी विद्वानों से अनुरोध है कि वे गुरुकुल पत्रिका के लिये टंकणकृत निबन्ध ही भेजें, जिससे लेख तथा उसके उद्धरणों को शुद्धतम रूप में प्रकाशित किया जा सके।

❖ शोध-निबन्ध मौलिक होना चाहिये। किसी अन्य विद्वान् की पुस्तक अथवा निबन्ध की नकल करके निबन्ध भेजना अनुचित है।

❖ किसी अन्य पत्रिका में पूर्व प्रकाशित निबन्ध को पुनः प्रकाशित करने के लिये कृपया न भेजें। निबन्ध की मूलप्रति ही प्रकाशित करने के लिये ही भेजें।

❖ वैदिक साहित्य से सम्बन्धित शोध-लेख प्रेषित करने वाले विद्वानों से अनुरोध है कि वे मन्त्र पर उदात, अनुदात्तादि स्वरों को अवश्य अङ्कित करें।